कोई एक नाम

368

तारादत्त निर्विरोध

10751
U.5.00

'तारादत्त निर्विरोध'

जन्म एवं स्थान : 14 जनवरी, 1939 जयपुर में।

शिक्षा : राजस्थान विश्वविद्यालय से हिन्दी साहि में स्नातकोत्तर।

लेखन : विगत 30 वर्षों से साहित्य की विवि विधाओं में निरन्तर एव नियमित।

प्रकाशन : देश की साहित्यिक एवं प्रसिद्ध पत्रिका और समाचार-पत्रों में बहु प्रकाशि रचनाकार।

प्रसारण : आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों एवं दू दर्शन से काव्य और वार्ताएँ प्रसारित।

विशेष बिन्दु :
- 1962 में चीनी आक्रमण के बा सुरक्षा कल्याण कोष के लिए देश क जगरण यात्रा।
- साहित्यिक सेवाओं के लिए 1972 में राजस्थान सरकार द्वारा "मैरिट अवार्ड" से सम्मानित-पुरस्कृत।
- राजस्थान ग्रेज्यूएट्स नेशनल सर्विस, बम्बई द्वारा दो बार पुरस्कृत एव शेखावाटी के सास्कृतिक मंच 'सदर्श' द्वारा अभिनन्दित। →

जन्म
शिक्षा

लेखन

प्रकाश

प्रसार

विशेष

कोई एक नाम

(एक सौ एक गीत)

तारादत्त 'निर्विरोध'

कविता प्रकाशन, जयपुर

☐ प्रकाशक :
दुर्गेशदत्त,
कविता प्रकाशन, 1282 खेजड़े का रास्ता,
जयपुर (राज.)

☐ सद्-परामर्श : कविता

☐ दिर

☐

ज
ग्नि
लेर
प्रव
प्रस
विक्रे

भेंट है मेरी यह 37वीं कृति

कोई एक नाम (काव्य)

भारतीय फिल्माकाश के देदीप्यमान 'सुपर स्टार'

अमिताभ बच्चन

को

उनके जन्म-दिन 11 अक्टूबर, 1988 पर

—तारादत्त 'निर्विरोध'

☐ लेखक ने अपनी आदि काव्य कृति 'मेरे गीत तुम्हारे ओंठ' 1955 में आदरणीयवर डॉ. हरिवंशराय बच्चन को समर्पित की थी और इसी क्रम में तीन दशकों बाद 37वीं कृति उनके सुपुत्र को भेंट की गई है।

मैं साक्षी हूँ

29 सितम्बर, 1963 की शाम। महालेखाकार कार्यालय, जयपुर के प्राङ्गण मे आयोजित विराट कवि सम्मेलन मे गूंजते ओजस्वी स्वर– 'गौतम दे माँ, गाधी दे' से जब मेरा परिचय हुआ, तब वह बेरोजगार कवि था, परेशानियो से घिरा, बेहद दुखी और किसी हमदम, हमखयाल और हमसफर दोस्त की तलाश मे खोया-सा। उसकी बेरोजगारी भारत पर हुए चीन के आक्रमण के समय कवितापाठ से जन जागरण करने और देश भ्रमण करके सुरक्षा कल्याण कोष के लिए धन जुटाने की राष्ट्रीय सेवा के फलस्वरुप थी। देश सेवा का उसे यह मुआवजा मिला कि भारत सरकार की नौकरी छूट गई, सिर से पिता का साया उठ गया था। लिहाजा उसके प्रति मेरा ध्यानाकर्षण स्वाभाविक था और मोह भी। वह हर रोज लच के समय मुझसे दफ्तर आकर मिलता, चाय की सिप के साथ सिगरेट सुलगा कर कोई नया गीत सुनाता और गन्ध की तरह लौट जाता, फिर मिलने के वायदे के साथ और कभी जब नही मिलता तो मेरा मन बडा दुखता न जाने कहाँ चला गया। इस तरह मुझे उसकी प्रतीक्षा रहती, वह भी मिलने की कोशिश करता और यह मिलना शनै. शनै दिनचर्या मे परिवर्तित हो गया। मुझे याद है उन दिनों उसकी जेब मे सिगरेट तक के पैसे नही रहा करते थे और वह था कि नौकरी की तलाश मे न जाने कहाँ-कहाँ भटकता, खो जाता, लेकिन वह कुछ-न-कुछ हर रोज लिखता था। जब रचनाओं के लिफाफे बाहर भेजने के लिए तैयार करता, तो उन पर डाक टिकट दोस्त लगाया करते थे। बड़ा उजडा-उजडा-सा, उखडा-उखडा-सा था वह, मगर इस सब से उसके नियमित लेखन का सिलसिला नही टूटता था।

जब उम्र चुकने की कगार पर वह थकने लगा तो उसने विवश होकर राजस्थान सरकार के जन सम्पर्क विभाग मे प्रूफ-रीडर की नौकरी स्वीकार कर ली। बडी मुश्किल से मिली इस नौकरी में भी उसे मैंने कभी खुश नही देखा। उसे पहला वेतन आठ माह की नौकरी के बाद मिला था। वह दुखी इसलिए भी था कि उसे अपनी कार्य-क्षमता की पहचान थी, किन्तु उसके पास जिन्दगी जीने के लिए नौकरी के सिवा

कोई चारा भी नही था। वह हर रोज मिलता और मुझे अपना 'चुपचाप दु:ख' कहता और हम अब तक अन्तरङ्ग मित्र बन चुके थे।

मैं मौन, अन्तर्मुखी और वह बेलाग, खुला-खुला-सा कागज साहित्यजीवी और बेहद वाचाल। न जाने मै उसे इतना कैसे भा गया था कि वह चुपके से मेरे नजदीक आ बैठा और मुझे बड़े भाई जैसा सम्मान देने लगा। आज उसी सम्मान से कहना चाहता हूँ कि उस जैसी कार्यक्षमता और साहित्यिक प्रतिभा मुझे उसकी पीढ़ी में देखने को नहीं मिलती। हजारो गीत, सैकड़ो आलेख और साहित्य की सभी विधाओं में साधिकार नियमित लेखन। उसकी कृतियों पर तो विद्वान समीक्षक और सुधी पाठक ही काफी लिखेंगे, पर वह जिन पगडण्डियों, सकरे रास्तों, अनाम मोड-चौराहो और धूप-ताप से गुजरता हुआ यहाँ तक पहुँचा है और उसे देश के शीर्षस्थ साहित्यकारो के समकक्ष न कूता जाना दृष्टि की कोताई का ही द्योतक माना जायेगा। मैं उसकी सपूर्ण साहित्य यात्रा का साक्षी रहा हूँ और यहाँ उन्ही बातो का उल्लेख करना चाहता हूँ जहाँ तारादत्त में से निर्विरोध गढा गया है। उसकी यह यात्रा चुनौतियों से भरपूर रही है और जिस ढग से उनका सामना उसने किया है, इस अहसास के बाद कोई भी व्यक्ति इतराने की हद तक पहुँच जाये तो आश्चर्य की बात नही, किन्तु तारादत्त आज भी उतना ही सरल, विनम्र तथा अपनों के बीच खुली किताब जैसा व्यक्तित्व है।

कोई ढाई दशक पूर्व मैं सपत्नीक उसके घर डिनर पर गया था और हम चार अदद व्यक्तियों ने डाइनिग टेबिल के स्थान पर चटाइयो पर बैठकर तेल के परांठे तथा आचार का जो आनन्द लिया था, मुझे याद नही पड़ता, मैंने जीवन में उससे बेहतर डिनर कही किया हो। उन दिनों निर्विरोध अपने कार्यालय में आई डाक के लिफाफो पर सफेद कागज चिपकाकर उनको अपनी रचनायें पत्र-पत्रिकाओं में भिजवाने के उपयोग में लिया करता था। ऐसे ही लिफाफो में प्रेषित उसकी रचनाओं को 'कल्पना', 'नवनीत', 'धर्मयुग', 'ज्ञानोदय' एवं 'कादम्बिनी' जैसी अनगिनत स्तरीय पत्रिकाओं मे स्थान मिला। कहना चाहूँगा कि राजस्थान से सर्वाधिक प्रकाशित होने वाले किसी एक रचनाकार का नाम पूछा जाये तो वह 'निर्विरोध' के अतिरिक्त दूसरा नाम नही हो सकता। उसकी पाठ्य-पुस्तको में सङ्कलित एवं दूसरी भाषाओं में अनूदित रचनायें, अनेक कृतियाँ और कोई ग्यारह हजार से ज्यादा ˝ का प्रकाशन-यह सब देखता हूँ तो मेरा मन गर्व से बड़ा हो

जाता है; किन्तु एक वह कि उसे किसी तरह का कोई गर्व नही छू गया है। वही तारादत्त जैसा था वैसा हो, न कोई बनावट, न कोई प्रदर्शन। जैसे कोई बीमार व्यक्ति खाट पकड लेता है वैसे ही वह लिखने की मेज को पकडे रहा और स्वाभिमान को जीने के लिए उसके पास नियमित सृजन के अतिरिक्त कोई जरिया नही रहा। उसकी जिन्दगी साप-सीढी की तरह रही और जब भी उसने किसी ऊचाई को छुआ, साप ने उसे काट लिया। वह कुछ भी बना और फिर पूरी तरह लुट गया। मै दाद देता हूँ उसकी हिम्मत की कि उसने विषम परिस्थितियो मे भी अपने को टूटने नही दिया, सो लेखन के सहारे दूर-दूर तक चलता रहा। उस जैसी मुसीबतें किसी को मिली होती तो न कोई कुछ लिख पाता और न अपना कोई रास्ता बना पाता, लेकिन तारादत्त ही है कि उसने आकाश भी छुए ता धरती से पाँव नही उखडने दिये।

गजब का आदमी है वह। मुझे उसका वह समय याद है जब वह जरा सी खुशी मे काफी पी लिया करता था और किसी अच्छी पंक्ति के साथ जुडकर इतना खुश होता कि अपना सब कुछ लुटा दिया करता था। निश्छल ऐसा कि सभी से मन की कच्ची बातें कह देता। संयम, समाज, व्यक्ति और समर्पण की बातें दुहराता और शाम होती तो दोस्तो की गलियो मे गुम हो जाता। वह वाकई मे निर्विरोध रहा और उसने किसी विरोध की परवाह नही की। विरोधियो पर व्यंग्य लिखना और दोस्तो के गुणो का बखान करना उसकी आदतो मे शुमार रहा। अहंकार, जोड-तोड, राजनीति, नाटकीयता और प्रदर्शन या छिछला जैसे शब्द उसके जीवन मे कभी नही रहे, बल्कि उसने ऐसे शब्दो का खुलकर विरोध किया। नौकरी मे उसे हर पदोन्नति के साथ परेशानियां मिली और जिस भी शहर मे वह रहा वहाँ उसने कोई साहित्यिक माहौल तैयार किया किंतु बाद मे उसे गलत लोगो के चक्रव्यूह का शिकार होना पडा।

तारादत्त मे साहित्यिक गतिविधियाँ बनाये रखकर एक माहौल रखने की बडी क्षमता है। जब वह जयपुर मे था तब 'साहित्य संस्थान' नाम से एक संस्था अस्तित्व मे आई और साहित्यिक प्रतिभाएँ जुडी। उन्ही दिनो 'नित्य गोष्ठी' बेहद चर्चित हुई और 'ऐतिहासिक प्रकाशन' के बैनर से सहकारिता के आधार पर एक दर्जन पुस्तको का प्रकाशन सम्भव हुआ। बाद मे 'रंगशाला' की त्रैमासिक पत्रिका 'अभिशिखा' और साहित्य संस्थान की पत्रिका 'नाम-1' का सम्पादन तारादत्त निर्विरोध ने ही किया और जब वह बाहर चला गया तो

एक प्रश्न-गीत

हाथों से छूटते,
बार-बार टूटते,
काँच के गिलास है कि आदमी ?

देह – राग-गंध के,
बंदी अनुबंध के,
काव्य रूप ये नए टूट रहे छंद के,

दूर तक सुवासते,
आसपास खासते,
साँझ के उजास है कि आदमी ?

साथी है भीड़ के,
या फरेब-झूठ के,
रहते है साथ ज्यों अपने से रूठ के;

गहरे मे डूबते,
यहाँ वहाँ ऊबते,
अधबने निवास है कि आदमी ?

तटवर्ती लोग ये,
अपने ही भोग ये,
इकलौते मोह के जुड़वाँ अभियोग ये,

पहले अनुरागते,
पीछे है भागते,
मीलों की प्यास है कि आदमी ?

□

सारी गतिविधियां ठप्प रह गई। वह अपरिचित साहित्यकारों से मिलने से भी कतराता रहा और समझता रहा कि उनके मस्तिष्क में तारादत्त निर्विरोध की छवि किसी प्रौढ़ सजीदे धीर-गम्भीर कवि की रही होगी और जब वे मिलेंगे तो उसे लड़का-सा पाकर उदास हो जायेंगे, किंतु यह उसका वहम ही निकला। तारादत के कृतित्व पर राष्ट्रीय कवि रामधारी सिंह दिनकर से लेकर नये से नये कवि ने जो कहा है, वह हर कवि के लिए नहीं कहा जा सकता। यह सच है कि तारादत्त कभी बूढा नही होगा, किन्तु यह भी क्रूर सत्य है कि उसने छोटी आयु में ही जिस प्रौढ़ता और दार्शनिकता को जीया है वैसी छवि अपने चेहरे मोहरे पर नहीं बना पाया।

—मुकुट सक्सेना
5–ग–17, जवाहर नगर,
जयपुर–4

हाथों से छूटते,
बार-बार टूटते,
काँच के गिलास हैं कि आदमी ?

देह – राग-गंध के,
बंदी अनुबंध के,
काव्य रूप ये नए टूट रहे छंद के,

दूर तक सुवासते,
आसपास त्रासते,
साँझ के उजास हैं कि आदमी ?

साथी हैं भीड़ के,
या फरेब-झूठ के,
रहते हैं साथ ज्यों अपने से रूठ के,

गहरे में डूबते,
यहाँ वहाँ ऊबते,
अधबने निवास हैं कि आदमी ?

तटवर्ती लोग ये,
अपने ही भोग ये,
इकलौते मोह के जुड़वाँ अभियोग ये,

पहले अनुरागते,
पीछे हैं भागते,
मीलों की प्यास है कि आदमी ?

□

हम सूर्य है

हम पंक्ति में खडे हुए विराम की तरह,
फिर एक नाम जो रहे अनाम की तरह।

दूर-दूर तक कही भी
रोशनी नही,
सभी दिशाएं खो गयी है
राह मे कहीं।
हम सूर्य है मगर झुके प्रणाम की तरह।

ओर-छोर कट गए है
मौन रास्ते,
आदमी नहीं रहे—
हमारे वास्ते।
टूटते-से बिम्ब है कि याम की तरह ?

क्या जमीन है कि कोई
गध ही नहीं,
रोक जो सके हमें—
वह बंध ही नही।

भूलते है दर्द भी अवाम की तरह।
हम पक्ति में खड़े हुए विराम की तरह।।

□

छूट रहे कूल

देवदारु हो गए बबूल मितवा।
लहरों में छूट रहे कूल मितवा ।।

भीतर से बाहर तक
लील रहे दुख,
रंगों ने छीन लिए
रूपों के सुख ।

आँखों में चुभते हैं फूल मितवा।
गंध हुई फूलों की भूल मितवा ।।

केसर की क्यारी ने
खुरच दिया मन,
हरी-हरी शाखों के
पिलियाए तन ।

कटे हुए वृक्ष और मूल मितवा।
मलयज की बाँहों में धूल मितवा ।।

जाए कहाँ दूर भी
कौन है वहाँ ?
राजनीति-राजनीति
सब तरफ यहाँ ।

गीत-राग रहे न अनुकूल मितवा।
शब्दों तक रह गए उसूल मितवा ।।

□

प्रस्तुति है गीत

गीत गगे !
हो प्रवाहित
अविरल वहो,
हम भी वहें ।

प्रस्तुति है गीत कोई,
स्तुति भी प्रगीत कोई,
छद-भाषा-भाव की यदि
सरस है प्रतीति कोई ।

भाव कणिके !
हो सुवासित
मन को कहो,
हम भी कहें ।

नवल स्वर हो गेयता भी
सुख-दुखो की सूक्ष्मता हो,
गहन क्रीडा, सघन पीड़ा
कथ्य की सक्षिप्तता हो ।

शब्द गरिमे !
हो सुयोजित
अर्थमय हो
हम भी रहें ।

वेद हो, कोई ऋचा हो,
राग का अभिनव उदय हो,
एक निष्छल मुक्त-धारा
गीत-सा जीवन सदय हो ।

काव्य प्रतिभे !
हो प्रकाशित
निर्भय चहो,
हम भी चहें ।

□

आधे और अधूरे सुख का,
टूटन भरे जटिलतम दुख का,
मूक-बधिर क्षण हूँ।

कहीं उगलती धुआँ चिमनियाँ
कहीं रोशनी पैदल चलती,
किन्तु वहाँ पर जाकर ठहरा
जहाँ खड़ी थी झुग्गी जलती।

कोलाहल के बीच रहा यों
जैसे आग भरी भट्टी के
नीचे का कण हूँ।

कहीं नदी के जल बहाव को
रोक खड़े थे बाँध अजूबे,
और कहीं जल के भराव से
बँधे सभी के थे मनसूबे।

वहाँ अलग-सा रहा कि जैसे
श्रम के नाम करोड़ों का मैं
बिना लिखा ऋण हूँ।

कहीं नहर थी अर्थ पूछती
महँगे जीवन की फाली के,
कहीं रोज की हरियाली के
साथ सपन थे खुशहाली के।

सदी लरजती उस डाली की
बाहों में यों रहा कि जैसे
रंगहीन तृण हूँ।

□

आहत् पक्षी-से हम

पख कटे आहत् पक्षी-से हम,
उड़ने का यत्न करें।
क्षितिज पाथ घूमिल आंखों मे भ्रम,
उड़-उड कर यहां गिरें।

ऊँचाई माप रहे चिमनी तक हो आए,
आंधी की बांह ढले कोटर के कहलाए।
बोझ लिए पखों पे भारी-भरकम,
ऊपर शून्य में तिरें।

नीलाई शाखो के छोड़ कर बसेरे को,
सध्या तक उडा किए भूलकर सवेरे को।
सौंप रहे रातो को दिन भर के श्रम,
सांसो में धुआं भरें।

औंधे मुँह लटके है आकाशी कूप यहाँ,
बहुरगी अंधियारे, चितकबरी धूप यहाँ।
बांट रहे उजियाला भीतर के तम,
किरणो के रूप जरें।

□

मिट्टी के रंग नहीं सोनाली धूप,
सूरज का रंग और साँवला हुआ रे।

सपनीले सात रंग
लाल हो रहे,
थके हुए अरुणा की
राग हो रहे।

डूब रहे पश्चिम में रूप सब अनूप,
सूरज का रंग और साँवला हुआ रे।

क्षितिज पाथ धूमिल से
मौन हर दिशा,
दिन नहीं ढला कि साँझ
हो रही निशा।

तारों से उतर रहे पीतवर्ण रूप,
सूरज का रंग और साँवला हुआ रे।

दौड़ धूप पावों से
छूट ही गई,
किरणें थी नोकदार
टूट ही गई।

अँधियारे झाँक रहे गहराए कूप,
सूरज का रंग और साँवला हुआ रे।

☐

क्षणिका का गीत

पोर-पोर उलझनों में जिस तरह फंसें ।
क्षणिका की चाकी में रोज हम पिसें ।।

ढोर अनमनी-सी सो
धूप गुनगुनी,
सपनों का अपने ही
बोध दुश्मनी ।

सपनों-से मोह ढंग चोर हम हंसें ।
क्षणिका की चाकी में रोज हम पिसें ।।

जोड़-जोड़ टूटन की
देह ढो रहे,
टूटी आवाजों के
शोर हो रहे ।

घेरदार कटुताए पाश में कसें ।
क्षणिका की चाकी में रोज हम पिसें ।।

भीड़ छंट गई कि दीर्घ–
मौन काटते,
ओर–छोर अपने ही
दर्द बांटते ।

वेगवान पानी की धार में फसे ।
क्षणिका की चाकी मे रोज हम पिसें ।।

दुर्ग-से खड़े थे हम
वृष्टि से ढहे,
गवरीले घर जैसे
बाढ़ में बहे ।

कटी हुई धरती में हम कहां बसें ?
क्षणिका की चाकी मे रोज हम पिसें ।।

□

कुहरे मे खोयी-सी एक किरण हो,
ऐसा क्षण कैसे जीने का क्षण हो ?

अनबोले-अनचाहे-अनगढ-
अनगाए रहना,
कभी-कभी अच्छा लगता है
विलगाए रहना।

जब पास कही धुँधवाता-सा कण हो,
ऐसा क्षण कैसे जीने का क्षण हो ?

रिसना, भीतर रिसते जाना
पीले घावो का,
व्यर्थ नही होता नीलापन
दर्द-अभावो का।

जब जीवन उडता-फिरता-सा तृण हो,
ऐसा क्षण कैसे जीने का क्षण हो ?

पहले कही दरकना, पीछे
टूट-बिखर जाना,
यह अपनापन ही बुनता है
सब ताना-बाना।

जब अपने पर अपना कोई ऋण हो,
ऐसा क्षण कैसे जीने का क्षण हो ?

□

होने के क्षण कभी-कभी ऐसा भी होता है,
बाहर खुशियाँ घेरे रहती, भीतर रोता है।

अर्थों में जीने वाले भी
शब्दों में जीते,
भरे हुए मन भी लगते है
कुछ रीते–रीते।

कोई चुपके-चुपके दुख की काँवर ढोता है।

सपने करक टूट जाते है,
तब आँखें खुलती,
काले रूप उभर जाने पर
आकृतियाँ घुलतीं।

कुछ पाने के लिए आदमी सब कुछ खोता है।

नीलवर्ण पीडाए है, सुख
श्वेत–श्याम होते,
दर्द हजारों चेहरों वाले
एक नाम होते।

कोई आँसू के जल में भी सपने बोता है।
बाहर खुशियाँ घेरे रहती, भीतर रोता है॥

□

अँधेरों की सुरंगों में समय का आदमी चलकर
कहाँ किस ओर जाएगा कि वापस लौट पाएगा ?
यही तो एक उत्तर मांगता हूँ मैं उजालों से ।

किरण को खोजते हैं जब दिशा छूटी हुई मिलती,
बड़े वाहन गुजरते हैं सड़क टूटी हुई मिलती,
नहीं पर रोशनी का हाथ अपने हाथ में होता,
हमारा दर्द ही है जो हमारे साथ में होता ।
तुम्हारा स्वप्न अंधी दृष्टियों की आँख में ढलकर–
कहाँ गंतव्य पाएगा कि सूरज साथ लाएगा ?
यही तो पूछता हूँ मैं अंधेरे के उबालों से ।

हुए निर्माण जिन हाथों उन्हीं के हाथ रीते हैं,
जिन्हें दुर्दिन कहा जाता उन्हीं के साथ बीते हैं,
कभी सौहार्द्रता भी यातना से कम नहीं होती
दया की दृष्टियां भी वासना से कम नहीं होती ।
तुम्हारी मुक्तता का रास्ता किस मोड़ से मिलकर–
हमारे पास आएगा कि हमको समझ पाएगा ?
उजाड़ा बाढ़ ने हमको कि टूटे हैं अकालों से ।

हमारे गाँव में तालाब या कोई नहर तो हो,
हवा में गंध हो कोई, कभी बस्ती शहर तो हो,
यहाँ पानी बिना यों आदमी ज्यों खेत सूखे हों,
उदासी हर घड़ी ऐसी कि जैसे पेट भूखे हों ।
उधर चिमनी जहर उगले, इधर बिजली पलक मारे–
कहो सद्भावनाएं भी किसे जीते, किसे हारे ?
घिरा है देश ऐसे ही अबूझे-से सवालों से ।

□

कोई एक नाम

हारी-सी, उकतायी-सवलायी शाम,
मुझसे ही पूछती है मेरा ही नाम,
कोई एक नाम।

अगजग मे, जीवन मे
जीवन के क्षण-क्षण मे,
फैली-सी धरती की
बालू के कण-कण मे, मैं ही तो हूँ,
सागर के ज्वारों में,
नदियों की बाँहो में,
झरनों की कल-कल में
जीवन की राहो में, मैं ही तो हूँ।
अंकित है मेरे ही चित्र सब ललाम।
मुझसे क्या पूछती हो मेरा ही नाम ?

दरपन के पानी मे,
पानी के दरपन में
बाहर की दुनिया के
भीतर के दर्शन में, मैं ही तो हूँ;
मानस के मथन में
क्षणजीवी चिन्तन में,
धारा मे नवयुग की
और मुक्त क्रन्दन मे, मैं ही तो हूं।
चर्चित है रूप और रंग हुए श्याम।
मुझसे क्या पूछती हो मेरा ही नाम ?

अनबोले दर्दों के
रिसते-से घावों में,
अनुगूंजे बोलों के
दर्द में, अभावों में, मैं ही तो हूँ;

कविता के शहरों में
गीतों के गाँवों में,
छन्दों में, भाषा में
शब्दों में, भावों में, मैं ही तो हूँ।
मेरे ही काव्य के हैं अनगिन आयाम।
मुझसे क्या पूछती हो मेरा ही नाम ?

□

फागुनी बयार

आज रंग घोल री,
बोल मधुर बोल री,
फूल-पात-पाँखुरी रंग है बसंत के,
फागुनी बयार से दिन नए दिगन्त के।

दूर-दूर जो रहे अनायास मिल गए,
नील झील के सभी पारिजात खिल गए;
घूँघटा उठा जरा,
और पास आ जरा,
बँध खुल गए सभी दूर के, अनन्त के।

झूम-झूम टोलियाँ नाच फिर दिखा रही,
उम्र सीख प्यार की रूप को सिखा रही,
मूक रह न इस घड़ी,
खेल रंग मद भरी,
बरस रही माधुरी गेह-द्वार कंत के।

लाल-लाल डोरियाँ आँखों में नेह की,
उड़ रही अबीर-सी हर सुगंध देह की;
दर्द को न याद कर,
खोल मौन के अधर,
गीत गूँजने लगे खेत-गाँव-पथ के।

□

हम अकेले भरी भीड मे
देखने मे मगर लाख हैं,
जो अगारे दबे रह गए–
हम उन्ही की बची राख हैं ।

बाहरी रूप मे है हरे
हर समय एक बैसाख हैं,
रंग जिस पर नही चढ सके
वृक्ष की वह कटी शाख है ।

रेत के लोग है हम सभी
फूल के पाँव की खाक हैं,
खेजडे उग रहे है जहाँ—
हम वहाँ पर खुली आँख हैं ।

जो भुनाई नही जा सके
उम्र की अनलिखी साख है,
किस तरह से उडे मन-विहग
स्वप्न-सुख की कटी पाँख है ।

□

सब विभाजित यहाँ

बस्तियां है मगर दर्द का एक भी तो घर नहीं,
आदमी के लिए आदमी प्रश्न है, उत्तर नहीं।

शब्द-विस्तार से हम यहाँ
अर्थ-संकोच तक रह गए,
प्रयत्न लाघव बढे जा रहे
बोध के रेत घर ढह गए।

व्यजनो तक चले है अभी, बोल है पर स्वर नही।
आदमी के लिए आदमी प्रश्न है, उत्तर नहीं॥

पंक्तियो की तरह जी रहे
छप रहे हम समाचार-से,
हैं विभाजित यहाँ सब तरफ
भेद की एक दीवार-मे।

वर्ण से वर्ण तक बँध गए, बँधनो का डर नही।
आदमी के लिए आदमी, प्रश्न है, उत्तर नही॥

कारकों-से जुडे है यहाँ
शून्य-से अक के साथ है,
छूटती जा रही हर सतह
कागजो में कटे हाथ है।

किस तरह से सहे वज्र को, मोम हैं, पत्थर नही?
आदमी के लिए आदमी प्रश्न है, उत्तर नही।

☐

आंखों में सपन नहीं, झाड़ी के उगे शूल,
नीलकमल बौराए पलकों पै भूल-भूल।

ककरेजी सांझ-किरण
फिसल रही पातों से,
करइल के रूप रचे
अधकचरी बातों से।

धूसर में लिपट रहे अलमों के गंध-फूल।

अनबोली रंगीनी
चुन्नट-से बंध फाग,
सूनी-सी पगडंडी
खोए-से गीत-राग।

मालनिया-देही पर उन्नाबी ये दुकूल।

शंका के गौर वर्ण
तृष्णा के भित्ति चित्र,
कुंठित अनुराग घोर
अगमय के नए मित्र।
शब्दों में भेंट रहे नागफनी या बबूल।
नीलकमल बौराए पलकों पै भूल-भूल॥

गीत का जन्म

गीतों को पंख मिले,
भावुक मन उड चला खुले आकाश मे,
शब्दों के कमल खिले,
कंचनवर्णी गध घुली वातास में ।

स्वर ने नहलाया कड़ियों को
फिर लय से जोड़ दिया,
तालों ने अर्थों के जल में
हंसो को छोड़ दिया ।

हम तुम फिर साथ चले,
दो क्षण जीने उजलाए विश्वास मे ।

छदों ने किया सयमित हमको
भाषा ने रग दिए,
भावो ने उर मथा, पीर ने
कहने के ढग दिए ।

वे दुर्दिन तभी टले,
डूब गए हम कही क्षणिक आभास में ।

परम्परा से मिली चेतना
गति से पथ-पाँव मिले,
नये बोध के नये शिल्प से
वे साचे नये ढले ।

स्वर के तब दीप जले
कई ऋचाए जन्मी बोझिल साँस में ।

□

काल की हथेली

एक सत्य कड़वा-सा व्यक्त कर सके तो हम,
काल की हथेली पर रेख तो खिंचेगी ही—
रिक्त बोध पीढ़ी का तनिक भर सके तो हम।

टूटती कहानी के
ओर-छोर बूझेंगे,
मौन की जवानी के
मुखर शोर बूझेंगे।

एक आयु करघे पर तार-सी बुनेंगे हम,
सांस की उदासी को रोशनी मिलेगी ही—
एक प्रश्न उत्तर के रूप मे चुनेंगे हम।

आसपास सज्ञा के
ओर फिर प्रतीको के
अर्थ ही सवारेंगे
शब्द और लीको के।

एक पक्ति अपनो-सी भेंट कर गए तो हम,
एक पृष्ठ आगे की पीढ़िया भरेंगी ही—
एक क्षण अजानों के साथ हो लिए तो हम।

रग और रोगन से
बात जो छुअन की है,
आज भी भली सी है
कसक मौन क्षण की है।

एक नाम अपना भी दर्द-सा जिएगे हम,
पथ यह करोड़ो का बुहर कर रहेगा ही—
प्रश्न चिन्ह होकर जब आग को पिएंगे हम।

□

धूप के मकान

इन अंधी दौड़ों में
कितना क्या दौड़ें हम ?
हाथ भी बंधे-से हैं
पांव भी कटे-से हैं ।

जीने का मतलब तो देह-बोझ ढोना है,
दो क्षण हँस भी लें तो जीवन भर रोना है;

भीतर से टूट गए
उनको क्या जोड़ें हम ?
बाहर तो एक मगर
सब तरफ बँटे-से हैं ।

साथ-साथ चलने का अर्थ सब अपरिचित हैं,
सुविधाए भोग रहे, सुविधा से वंचित है;

कैसे क्या व्यक्त करें
और मौन तोड़ें हम ?
मोम के मुखौटे है
प्रेम तक अटे-से हैं ।

धूप के मकानों की जालियां किरण की हैं,
भूख के किवाड़ों की सांकलें मरण की है;

कुछ भी तो नहीं यहां
दृष्टि किधर मोड़ें हम ?
सीढियां चढे तो हैं
द्वार से हटे-से है ।

जोड़-भाग सीखे है भूलते ककहरे को,
नक्शे में खोजते अपने ही चेहरे को;

अंकों की दुनिया का
कौन मोह छोड़ें हम ?
बाकी मे जुड़े हुए
जोड़ में घटे-से है ।

□

धुंध के सवेरे

धुंध के सवेरे हैं,
आज हम अंधेरे हैं।

रोशनी नहीं पहुंचे
दूर के बसेरे हैं,
आयु के मोहल्ले में—
नामहीन डेरे हैं।

नाम रंग जीते हैं—
रूप के चितेरे हैं,
आदमी नहीं हैं हम
सांप हैं, सपेरे हैं।

वक्त के निकाले हैं,
दर्द के निबेरे हैं,
हर जगह अकेले हैं—
सब जगह घनेरे हैं।

खौलते समन्दर के
डूबते मछेरे हैं,
सूर्य तो नहीं हैं हम—
तिमिर के उजेरे हैं।

□

नाम लिख गया हूँ

काल-पत्र पर नाम लिख गया हूँ,
मैं पहले से अधिक दिख गया हूँ।

शब्दों मे अभिव्यक्त, अर्थ से
जुड़ा-जुड़ा-सा हूँ,
किसी पंक्ति के साथ अलग-सा
कहीं खड़ा-सा हूँ।

छिपा रहा पर तुम्हें लख गया हूँ।
मैं पहले से अधिक दिख गया हूँ।

लीकों पर तो नहीं चला पर
नहीं अलीका हूँ,
सज्ञाओं से बधा कहीं तो
गया प्रतीका हूँ।

अनचाहे भी कहीं बिक गया हूँ।
मैं पहले से अधिक दिख गया हूँ।

अनबोधे क्षण बिखरावों के
जब भी तोड़ गए।
मुझको मेरे पास अकेला
कुछ दिन छोड़ गए।

कटुताओं का स्वाद चख गया हूँ।
मैं पहले से अधिक दिख गया हूँ।

प्रश्न चिन्ह—से मित्र फ्रेम में
पूरे जड़े हुए,
वे सब जो मेरे पाँवों से
चलकर बड़े हुए।

उत्तर देकर, हो विमुख गया हूँ।
मैं पहले से अधिक दिख गया हूँ।

□

गाँव गए थे क्या ?

ग्रौर कहो, मेरे गीतो के गाँव गए थे क्या ?
मैंने सुना ग्राजकल वे सब शहर हो गए है ।

पीले-पपडाए क्षण ग्रनगिन
सवर गए होगे,
रेत-महल के काल-चित्र वे
उभर गए होगे ।

कहो कहीं जलते मरुथल के सपन मिले थे क्या ?
मैंने सुना ग्राजकल वे सब नहर हो गए है ।

सूखी शाखो मे सतरगे
मेघ मिले होगे,
चूने-सी जलती धरती मे
फूल खिले होगे ।

कहो कभी ग्राँधी-ग्रघड की बाँह ढले थे क्या ?
मैंने सुना ग्राजकल ग्रघड बहर हो गए है ।

बालू की परतो का उजला
रूप दिखा होगा,
ग्राग भरी कृतियो पर जल ने
नाम लिखा होगा ।

कहो, किसी की भूख-प्यास के ग्रर्थ मिले थे क्या ?
मैंने सुना ग्राजकल वे सब लहर हो गए है ।

❑

लागी है आग

जलता है मरुथल ही काल के अकाल मे,
रीत गया पानी भी गहराए ताल में,
बालू के जियरा की परतों मे
लागी है आग ।

बिन पानी गगरी से
पनघट न छलके,
कडुआयी अँखियों से
मधुघट न ढुलके;

गोरी गणगौर के अधरो से ढरते है
तीजों की पलकों के
सुबकाए राग ।

बिछड़ी है बेलों की
जोड़ी सयानी,
गैया के सावन में
बरसा न पानी,

अम्बर पियासा तो धरती मे धान नहीं
अकुलाए प्राणों के
दुर्दिन के भाग ।

सूखी-सी धरती मे
अनगिन दरारें,
पिघल रहे चूने की
जैसे तगारें;

असमय ही छाए हैं साये यों मौत के
सिर पर ज्यों बैठे हों
अपशकुनी काग ।

□

हम तो उजडे हुए गांव हैं
कौन आंगन मे हमें बसाए ?

छुआ नही हो जिसे हवा ने
उसे गंध भी क्या पहचाने ?
गूंगी आंखो के सपने को
कोई सच भी कैसे माने ?
कौन यहां जो पिघल रहे
लावे के घर मे रात बिताए ?

मिटी हथेली की रेखाए
कैसे रूप दिखे जीवन का ?
अधरो की स्याही से कैसे
नाम लिखे मन की उलझन का ?
छायातप मे कटी जवानी
दुख भी कैसे गले लगाए ?

ऐसी जगह समय ने छोडा
परिचित लगें अपरिचित जैसे,
अपने मन की सुविधा तक से
हम हैं अब तक वचित जैसे,
बीहड़ बन मे लगी आग को
देखे भी तो कौन बुझाए ?

हम तो उजडे हुए गांव है
कौन आंख मे हमें बसाए ?

□

सुख था किसी नगीने जैसा

दर्पण की किरचों से जीवन जोड़ लिया,
अपने ही हाथों अपने को तोड़ लिया।

यह दीवारें-गेह और सब दरवाजे,
क्या देंगे जब हरे घाव होंगे ताजे ?
कोमल मन को नाहक तोड़-मरोड़ लिया।
दर्पण की किरचों से जीवन जोड़ लिया।

आखिर रिश्ते भी कब तक भुन पाएंगे ?
आगामी अतीत की ध्वनि सुन पाएंगे ?
ऐसा क्या था, राहों को ही मोड़ लिया ?
अपने ही हाथों अपने को तोड़ लिया।

कल यदि सम्बल नही मिला तो क्या होगा ?
कोई दृगजल नही मिला तो क्या होगा ?
सुख था किसी नगीने जैसा, फोड़ लिया।
दर्पण की किरचों से जीवन जोड़ लिया।।

□

आगामी अतीत

मन के गाँवों के आसपास
तन के शहरों से कहीं दूर,
हम मिलते हैं हर बार राह की खोयी-सी पहचानों में।
जैसे वर्षों बाद प्रवासी फिर लौटे बन्द मकानों में।

ऐसे हैं सम्बन्ध हमारे जुड़े और अनजुड़े रह गए,
आकृतियों के प्रेम समर्पण कागज जैसे मुड़े रह गए।
मन की छाँवों के आसपास
तन की वजहों से कहीं दूर,
हो गए कभी अजनबी बैठकर चिर परिचित इंसानों में।
जैसे वर्षों बाद प्रवासी फिर लौटे बन्द मकानों में।

आखिर क्या है जिसकी खातिर हम तुम आधे और अधूरे ?
एक उम्र कट गयी दूसरी आई तब भी सपन न पूरे।
मन के घावों के आसपास
तन की जगहों से कहीं दूर,
हम खोज रहे गन्तव्य मोह की बाँह ढले दालानों में।
जैसे वर्षों बाद प्रवासी फिर लौटे बन्द मकानों में।

❑

मौन नहीं टूटे

मुखर न हो तो बात न कोई
मौन नही टूटे ।

सब कुछ अपनो जैसा अपना,
आँखों का कोई हो सपना,
किसे पता कब कौन यहाँ पर-
मिले और रूठे ।
मौन नही टूटे ।

सूनेपन का बतियाता क्षण,
बन जाता है अपना ही ऋण,
जितने अच्छे रिश्ते-नाते—
उतने ही झूठे ।
मौन नही टूटे ।

रोज जिसे मन से लिखना है,
उस जैसा ही तो दिखना है,
पंथ न कोई साथ चले रे,
पाँव जहा छूटे ।
मौन नहीं टूटे ।

□

शहर नीला हो गया

वह गुलाबी गंध ककरेजी हुई
शहर नीला हो गया ।

घुस गए घर-आँगनों में
जानवर या साँप,
जंगलों की बस्तियों में
व्यक्ति की क्या माप ?
चौपडों की सान पर कसता हुआ—
शहर ढीला हो गया ।

जन्म के संबंध तक को
लग गई जब जंग
रेख उभरी और फिका
हो गया वह रंग ।
एक बरगद की तरह फैला, जिया—
और पीला हो गया ।

कौन किसको समझ पाता
था किसे यह बोध ?
चाँदनी के आँगनों पर
धूप करती शोध ?
प्यार नंगे पाँव जब चलने लगा—
पथ नुकीला हो गया ।

□

कितने दिन ?

अपने को भूलेंगे हम तुम–
उंगली पे गिन-गिन ।
कितने दिन ?

जब पथ नहीं सूझेंगे,
हम अपने को बूझेंगे,
मन तो खाली-खाली होंगे
भरे-भरे पल-छिन ।
कितने दिन ?

जब लोग नहीं समझेंगे,
हर बार कहीं उलझेंगे,
सुख की क्या पहचान रहेगी
दुख होंगे अनगिन ।
कितने दिन ?

जब रंग उतर जाएंगे,
सब रूप बिखर जाएंगे,
इच्छाएं ही बन जाएंगी
जहरीली साँपिन ।
कितने दिन ?

□

बुढ़ियाए बरगद की छाँह नहीं देखी पर
पीपल के पत्तों की चिकनाई पढ़ते है,
काल के चितेरे हम रंगों की झाई में—
रूपों की अनगढ़-सी आकृतियाँ गढ़ते हैं।

चोखा या चटक रंग फीका हो या हल्का,
टुकड़ा हो चमकीला हीरामन बादल का,
रंग-तूलिकाओं के चित्रफलक सूने है,
रेखाएं उभरी है, दर्द बोध दूने हैं।
आभासित बिम्बों को रूपायित करने को—
गत्तों पर चिपकाते, फ्रेमों में मढ़ते है।

सपनों में जीना था दर्पण को तोड़ रहे,
रेत के समन्दर में नावों को छोड़ रहे,
छूटती दिशाओं के पाँव तक मुड़-से है,
आग तो बरसती है और हम गड़े-से है।
भागती हवाओं के साथ तो चले है पर—
सात गाँव पीछे तो एक मील बढ़ते है।

हरियाली पीते है और यों बिफरते है,
कच्ची दीवारों से रंग ज्यों उतरते है,
कोरे है, निर्धन है किन्तु धनी जैसे है,
इन्द्रधनुष बाँहों के नागफनी जैसे है।
भूख-प्यास अपनी भी देह गए भूली है—
सीढ़ियाँ अभावों की गिन-गिन कर चढ़ते है।

□

टूटना नहीं

ओ मेरी बाँसुरी
काव्य-अमृता !
आ, मेरे गीतों के और पास आ ।

जाना है हमको तो
और ही कही,
यहाँ-वहाँ बड़ी ऊब
टूटना नही ।

ओ मेरी माधुरी
रूप गर्विता !
आ, मेरे अधरो के और पास आ ।

कुहरा-सा छाया है
हर तरफ अभी,
भीड और मेलो के
लोग है सभी ।

ओ मेरी साँवरी
प्राण अर्पिता !
आ, मेरे दर्दों के और पास आ ।

□

हवाएँ खेलती हैं फाग

देह-जंगल मे कही फिर से लगी है आग,
जिन्दगी घर लौट आओ ।

आग की लपटें यहाँ तक
आ गयी तो मन जलेगा,
सिलसिला यह उम्र के
हर मोड तक सग-सग चलेगा ।
उन मुडेरो पर नही, सिर पर चढे है काग,
जिन्दगी घर लौट जाओ ।

कुछ नही हो पर तपन तो
तपन है कब तक बचोगी ?
पोर जलती उगलियों से
अनलिखा कैसे रचोगी ?
ताड वृक्षो मे हवाए खेलती हैं फाग,
जिन्दगी घर लौट जाओ ।

आँख तक आ धूलिकण फिर
जाल-सा बुनने लगे हैं,
गर्म पत्ते खडखडा कर
शीश को धुनने लगे है ।
अर्थ को छलने लगा है शब्दिक अनुराग,
जिन्दगी घर लौट जाओ ।

धूप की अहीरन

धूप की अहीरन ने बीन लिए नाम ।
उनको ही पढ़ती है खेतों की शाम ।।

उम्र की चुनरिया तो
लाल और पीली है,
कडुआयी अँखियों की
कोर-कोर गीली है ।
बिम्बो-से टूटे हैं असमय के याम ।

हल चले वहाँ पर भी
फिर अकाल आया है,
रीता है, निर्धन है
बादल जो छाया है ।
जाने कब बरसेंगे आकाशी राम ।

बोझ वे कुदाली के
कंधों से उतरे है,
लोक-चित्र माटी के
छाया-से छितरे है ।
दिन भर की हलचल के लग गए विराम ।
उनको ही पढ़ती है खेतों की शाम ।।

□

टूटती आकृतियो का गीत

दिन छपते जाते है कागजी-उजासो मे,
विज्ञापित संध्याएँ गैर की तलाशो मे,
नगापन तैर रहा रेशमी लिबासो मे—
रातो की आकृतिया टूटते गिलासो मे ।

शब्दो की बस्ती मे घर-आँगन-द्वार नही,
कोई कैसे पढले मन तो अखबार नही ?

ऐसा अपनापन है सर्पो-से डँसते है,
होकर निर्बन्ध यहाँ बन्धन को कसते है,
सब कुछ ही खो देते कुछ पाने की खातिर—
शहरो का मोह लिए जगल मे बसते है ।

देह-बोझ ढोना है, जीने मे सार नही,
कोई कैसे पढले मन तो अखबार नही ?

अब तो दुर्घटनाए कागज पर घटती है,
बाढें भी आती है सुविधा-सी बँटती है,
जो कुछ था अनजाने-अनदेखे बीत गया,
सपना था, दर्पण के पानी-सा रीत गया ।

सब झूठ और भ्रामक, कोई आधार नही,
कोई कैसे पढले मन तो अखबार नही ?

□

यायावर

मैं तो यायावर हूँ
आया था, लौट चला,
दूर भी रहूँगा तो
पास ही रहोगे तुम ।

शहरों में कुहीन, पथों में पाषाण,
वर्षों तक गीतों में मुझको दुहराओगे,
अपनी धनुगुन यहीं
छोड़ जा रहा हूँ मैं-
याद जब करोगे तो
पास में रहोगे तुम ।

मेरी मजबूरी थी, कुछ दर्द सनम का था,
जुड़कर भी नहीं जुड़ा यह रूप मरहम् का था;
पीड़ा को कथा दे
ऐसा सुख मिला नहीं,
मौन की उदासी को
किस तरह सहोगे तुम ?

जिस तरह जिया मैंने तुम शहर जी सके तो,
कड़ुवाहट का आसव दो बूंद पी सके तो,
कच्चे-से प्रश्नों के
उत्तर तलाश लोगे,
मन ही मन तब मुझको
आदमी कहोगे तुम ।

□

आँगन खिला पलाश

हारे-थके प्रतीक्षित क्षण ने
पाया फिर आभास
तुम्हारे आने से ।
और नयी आकृति ने देखा
आँगन खिला पलाश
तुम्हारे आने से ।

बुनते-सुनते गीत मधुरतम क्षणिका डोल गयी,
पुरवाई चुपके से आकर खिड़की खोल गयी,
उजला हो आया द्वारे की
चौखट का विश्वास
तुम्हारे आने से ।

एक कथानक चलते-चलते यों इतिहास बना,
जैसे पता अनुभव पाकर नव मधुमास बना,
गंधायित फूलों ने चाहा
एक खुला आकाश
तुम्हारे आने से ।

उभर गए कुछ चित्र, दृष्टि के रंग हुए गहरे,
सुविधा के रूपायित मुखड़े पलक-कूल ठहरे,
मशायित हो गया रूप हर
करके सही तलाश
तुम्हारे आने से ।

□

आँगन में कचनार

सारे बन्द मकान, एक खिड़की
अधखुली-खुली ।

अधी बस्ती की सड़कों का
ओर न कोई छोर,
सबको बाँधे हुए दिनों मे
जैसे काली डोर,
सदियों वाले रंग महल के
भित्ति चित्र की
कीरत घुली-घुली ।

छायाएँ हर बार जुड़ी पर
मिला न कोई रूप,
इधर किसी क्षण घर-द्वारे तक
आयी कभी न धूप,
अपने को अनपढ भाषा मे
दुहराती है
अनपढ, मूक गली ।

देहरी पर शंकाएं बैठी
आँगन में कचनार,
बूढ़े धूल सने कक्षों मे
खांस रहा अभिसार,
जाने कब से एक कथानक
साथ लिए है
बातें घुली-मिली ।

□

टुकड़ा धूप का

संध्या ने पूछ लिया आज फिर सवाल,
सूरजो के अश्वों की धीमी क्यों चाल ?

छितरायी किरणों की
आँखों का तेज,
टुकड़ा था धूप का
थक गया सहेज ।

डूबते मे होता न हार का सवाल ।
इसीलिए अश्वो की धीमी है चाल ।

पहले तो रहा नही
चेहरा उदास,
आँगन मे फैला था
हर तरफ उजास ।

लौटा, ज्यो दफ्तर से दिया हो निकाल ।
इसीलिए अश्वों की धीमी है चाल ।

दिन भर की दौड-धूप
रही नही साथ,
पाँवों से छूट गए
क्षितिजो के पाथ ।

शहरो मे मेले है, गाँव मे अकाल ।
इसीलिए अश्वो की धीमी है चाल ।

□

मेघ माँगते पानी

भूख उगी है खेतों में, मेघ माँगते पानी।
देश फिर पढ़ता है कोरे कागज की कहानी।

जितनी सींची गई धरणि
उतनी ही बाँझ हुई,
जिसने दिया पसीना था
घर उसके साँझ हुई।

झुग्गी मे अधनंगी बैठी हलधर की रानी।
देश फिर पढता है कोरे कागज की कहानी।

बातों के पुल बने और
पत्थर के टूट गए,
सभी प्रगति के सफर यहाँ
पाँवों से छूट गए।

खोया बचपन माँग रही भटकी हुई जवानी।
देश फिर पढता है कोरे कागज की कहानी।

फाइल मे नत्थी हो दम
सपनों ने तोड दिया,
हमने उनको बिन देखे
अकों मे जोड़ दिया।

शब्द बाँटते रहे सभी को हम ऐसे दानी।
देश फिर पढता है कोरे कागज की कहानी।

□

बड़े शहर की बडी भीड के
कोलाहल से दूर निकल,
फिर गीतो के साथ चल ।

कुठा खिसियानी बाला के पिता विरोधाभास हैं,
छोटे भाई-बहन बिसगति-क्षोभ और सत्रास हैं,

पहले बिकी हुई कलमो की
मजबूरी की राह बदल ।
फिर गीतो के साथ चल ।

सुधियाँ यहाँ निपूती, सपने बेबस टूटी पाँख के,
युगदृष्टा हैं काले-चश्मे पत्थर वाली आँख के,

पहले बन्द घरो के द्वारो की
खुलवा दे हर साँकल ।
फिर गीतो के साथ चल ।

दुर्घटनाएँ पढी जा रही सडक-छाप अखबार मे,
कोई लिखता नही, मगर सब छप जाता हर बार मे,

पहले टूटे हुए समय के
लोगो की गुनले हलचल ।
फिर गीतो के साथ चल ।

गीत वहाँ तक ले जाएँगे जहाँ नीड उजियार के,
क्षण-क्षण मेले जुडते रहते जीवन के अभिसार के,

जहाँ प्रकृति के रूप मुखर है
छवियाँ नही जहाँ धूमिल ।
फिर गीतो के साथ चल ।

□

जिंदगी जहाँ रही

जहां-जहां भी प्यार को गीत क्षण मिले,
वहां-वहां अनाम दर्द साथ हो चले।

व्यक्त हो गया उसे ही
काट भी दिया,
जो जिया गया सभी में
बांट भी दिया।

इस तरह से रूप और सामने धुआं-
साथ ज्यों गुबार के चले हों काफिले।

धुंध में किरण कहीं तो
भोर हो गए,
हम दबी-सी आग के
शोर हो गए।

इस तरह से टूट-टूट हम जुड़े यहां-
एक उम्र दूसरी के वास्ते ढले।

बंध यों कसे किसी के
प्राण कस गए,
जिंदगी रही वहाँ ही
सर्प बस गए।

इस तरह से प्यास और रेत का कुआं-
रोशनी के आसपास ज्यों तिमिर पले।

बिम्ब पानी में

रेख छोटी भी उभर जाए तो कुछ बात बने ।
रंग कोई भी सवर जाए तो कुछ बात बने ।

यह तो माना कि अजानी है
भीतर की प्रतिमा,
रूप उसका भी निखर जाए तो कुछ बात बने ।

शोर में स्वर न उभर पाते है
क्रान्ति के माना,
बात अपने में बुहर जाए तो कुछ बात बने ।

यह तो माना कि समदर है
गंदलाया लेकिन,
बिम्ब पानी में उतर जाए तो कुछ बात बने ।

सारा माहौल है खोया हुआ
उलझावों मे,
शब्द अर्थों से उबर जाए तो कुछ बात बने ।

और भी अर्थ है दुनिया के
समझने के लिए,
आवरण फिर से उघर जाए तो कुछ बात बने ।

□

दिन बीते

वार-वार कच्चे धागों से
घाव उमर के सीते-सीते ।
दिन बीते ।

रहे न अपने सबके होकर,
पाया भी क्या सबकुछ खोकर ?
भरे-भरे मन भी लगते हैं
कितने रीते ?
दिन बीते ।

बाँह मिली कब नदिया तट से ?
*'प्यासा लौट गया पनघट से',
हार थके हम भरी जवानी
पीते-पीते ।
दिन बीते ।

एक *'दर्द का सौदागर' था,
वही समय का नटनागर था,
किसी ठाँव खो गया रूप को
जीते-जीते ।
दिन बीते ।

*'मेरे गीत तुम्हारे आँसू',
इकलौते बजारे आँसू,
दोनो बने सभी के साधन
और सुभीते ।
दिन बीते ।

□

* लेखक की कृतियां

पथरीली सतहों तक

पहले जो जैसा था
वैसा कुछ रहा नहीं,
पगडंडी से लेकर
पथरीली सतहों तक ।

अंधी आँखों वाले सब चमकदार चश्मे,
युगद्रष्टा बन बैठे कुर्सी के सर्कस में ।

मनचाहा भी देखा
मन ने कुछ कहा नहीं,
उन सगड़ी बातों से
इन गूंगी वजहों तक ।

चर्चाएं चलती हैं शहरी आबादी में,
आवाजें दबती हैं गाँवों में खादी से ।

सहते ही आए हैं
बोलो क्या सहा नहीं ?
मटमैली रातों से
धुंधलायी सुबहों तक ।

संख्या में लिखे हुए अपने निर्माणों के,
शब्दों में बने हुए नक्शे खलिहानों के ।

धारा तो एक मगर
हर कोई बहा नहीं,
खेतों की मेड़ों से
दफ़्तर की जगहों तक ।

◻

जब कोई नाम लिया

ऐसे जिया गया है जीवन जैसे एक दिया।
फूंक लगी बुझ गया और आंधी में जला किया।

जब भी छुआ ज्योति के कर को
तब ही जलन मिली,
आखिर किसी अंधेरे में ही
अपनी रात ढली।

ऐसे पिया गया है अमृत जैसे जहर पिया।
प्यास अबूझी रही और पानी भी रीत गया।

जीवन को उजलाने बैठे
सतहें नहीं रहीं,
किसी अकेले मे खो जाते
कोई मिला नहीं।

ऐसे दिया भुलावा मन को जैसे प्यार किया।
दर्पण मे अपने को देखा कोई नाम लिया।

अपने को बाहर से जोड़ा
भीतर टूट गए,
भीतर को बाहर लाये तो
साथी छूट गए।

ऐसे सिया अधर को जैसे मन को कैद किया।
सब कुछ दिया मगर लगता है कुछ भी नहीं दिया।

□

किस गहरे में

दिन आये, दुर्दिन-
किस गहरे मे जाकर डूबे
मेरा भोला मन ?

अलग-अजानी-अनगढ-आकृति
पानीदार हुई,
गद्यायित हर रग-रेख अब
चित्राकार हुई ।

भीडो मे खोया गीत और
कविता का सीधापन ।

उतर गई युग के चितन से
दुविधा अर्थमयी,
अनायास ही व्यक्त हुआ
कहलाया कालजयी ।

आखिर कितना क्या बदलेगा
क्षणजीवी लेखन ?

कुछ गहरापन, कुछ उथलापन
इतना पास रहा,
पानी बनकर पत्थर मे से
दु ख चुपचाप बहा ।

काले शहरो की आँखों में
रहा न कोई पन ।

□

अपनेपन से अलग

विश्वास नहीं होता है–
अधकचरी बातों के बौने-क्षण,
बन पाएंगे सुघर-सलौने क्षण।

अनघुले और कच्चे रंगों के
रूप निखरने से,
काल भ्रमित पीढ़ी के असमय
कहीं उभरने से।
विश्वास नहीं होता है–
मूल्यहीन युग के अनहोने क्षण,
बन पाएंगे सुघर–सलौने क्षण।

जुड़ना अर्थहीन संज्ञा से
गलत प्रतीकों से,
इतना व्यर्थ नहीं था चलना
बंधकर लीकों से।
विश्वास नहीं होता है–
नये काव्य के ये ललछौने क्षण,
बन पाएंगे सुघर–सलौने क्षण।

खुले व्यंग्य के बंद हास का
अर्थ बदलने से,
सब कुछ कटा-कटा लगता है
आयु निकलने से।
विश्वास नहीं होता है–
अपनेपन से अलग–अलौने क्षण,
बन पाएंगे सुघर–सलौने क्षण।

□

बिम्ब उभर आए

ज्यों ही हुआ गीत ने कोई मन,
और ऋणी हो गया सृजन का क्षण ।

दृष्टि शब्द के गहरे
पैठ गई
कुछ बिम्ब उभर आए,
बात पंक्ति के भीतर
बैठ गई
छंद-छंद मुसकराए ।

ज्यो ही पहचाने-अनुमाने ऋण,
और ऋणी हो गया सृजन का क्षण ।

अनजाने परिचित-से
कहीं मिले
उलझे मन निखर गए,
गर्भवती-कुंठा के
द्वार खुले
फिर निर्णय बुहर गए ।

ज्योंही मिले शाख को कोमल तृण,
और ऋणी हो गया सृजन का क्षण ।

□

लाचार मेरा मन

टूट-टूट कर अपने से
हर बार मेरा मन,
जाने कहाँ जुड़ा रहता है
होकर फिर लाचार मेरा मन।

कितना दूभर हो जाता है ऐसे क्षण को जीना,
बाहर की दुनिया में रहकर अपनेपन को पीना।
किसी वस्तु-सा अपने घर भी
होता कही उधार मेरा मन।

भीतर के कोलाहल में भी सूने जैसा चिंतन,
बिना गूज का शब्द दृष्टि को समझाता है दर्शन।
सारे अर्थों की भाषा का
हो जाता बीमार मेरा मन।

खालीपन की सब सीमाएं एक कक्ष मे होती
मगर आयु का एकाकीपन साथ न कोई ढोतीं।
कोरे कागज-सा रहता है
घंटों ही इतबार मेरा मन।

□

जेठिया दुपहरी

आंखो से अधी
कानो से बहरी,
जेठिया दुपहरी ।

अघड हो अधड
यहाँ-वहाँ छाए,
ढेर-ढेर तिनके
साथ लिए आए ।

पत्ते हैं दौडकर
लाघते है देहरी ।

आवारा लू के
खेल ये निराले,
आंखो मे बनते
मकड़ी के जाले ।

पलको पर आकर
धूल आज ठहरी ।

दफ्तर के बाहर
टाटियो के द्वार,
वदी हैं भीतर
सारे कलमकार ।

काम के लतीफे
गप्प की कचहरी ।

कही नही जाना
कही नही माना,
सीखा है सबने
वहाने बनाना ।

सोना है अब तो
तान कर मसहरी ।

□

समय से कटे रहो नहीं

आग जो दबी हुई
अब उसे निकाल कर—
उस अंधेरी रात को उजाल दो,
भीड़ से घिरे रहो कहीं
प्रश्न ही उछाल कर—
इस तरफ से उस तरफ निकाल दो ।

कह सके न कल जिसे, व्यक्त तो करो,
रिक्त बोध है उसे तनिक तो भरो,
काल के कराल से यों नही डरो;
चित्र-से टंगे रहो नहीं,
दृष्टि देखभाल कर—
फिर हवा के हाथ में मशाल दो ।

लोग है दिशा भ्रमित, दृष्टि तो चुनो,
एक क्षण मुखर नही, मौन की सुनो,
दर्द गीत के लिए तार तो बुनो;
शब्द श्लोक बन सके जहां
लेखनी संभाल कर—
आदमी को राग और ताल दो ।

शोर महज शोर ही आसपास है,
शाम से अधिक भोर अब उदास है,
देश मुक्त है और कैद सांस है—
समय से कटे रहो नही
एक रूप ढाल कर—
बुदबुदाते होंठ को सवाल दो ।

जब नाम लिया

क्षण ने आकर जैसे क्षण को
बिल्कुल काट दिया,
जब अपना नाम लिया।

यश के कई पोस्टर हमने
यहां-वहां चिपकाए,
अपने सुख के लिए दुखो के
सभी रूप छपवाए।
और अधिक जैसे अपने को
हमने कैद किया,
जब अपना नाम लिया।

आंखो मे सपने तिर आए
वे सपने कहा रहे ?
पूरी तरह नही टूटे तो
हम दुख मे कहां बहे ?
नाहक ही खट्टा हो आया
वह यौवन फालसिया,
जब अपना नाम लिया।

कुछ भी नही रहा तो हमने
सूने से की यारी,
पता नही था हमसे ज्यादा
उसकी है लाचारी।
जब से जन्मा तब से उसने
अपना ही अधर सिया,
शब्दो मे नही जिया।

☐

ऐसे-ऐसे भी दिन आए

जैसे कहीं हरापन टूटे, पीला हो पपड़ाए,
ऐसे-ऐसे भी दिन आए।

बाहर नदिया तट को काटे,
भीतर सड़कें जीवन बांटे,
जैसे मन की पगडंडी हो खेतों में खो जाए।
ऐसे-ऐसे भी दिन आए।

घर आंगन द्वारे-चौबारे,
किसी धुंध में डूबे सारे,
जैसे कोई किरण तिमिर की बांहों में सो जाए।
ऐसे-ऐसे भी दिन आए।

माटी निपजे घनी उदासी,
पनघट की मीनारें प्यासी,
जैसे बदली घुमड़े, छाए, बूंद नहीं बरसाए।
ऐसे-ऐसे भी दिन आए।

चर्चे व्यर्थ किसी दमखम के,
किसी अहम् के और कलम के,
ज्ञान-चक्षु को यहां निरक्षर स्वर-व्यंजन सिखलाए।
ऐसे-ऐसे भी दिन आए।

□

फागुन गा लें

बहुत उछाले प्रश्न, आज तो
फागुन गा लें।

ये चितकबरे लोग
और ये रंगतहीन शहर,
ये मदछकिए रूप
और ये टूटन भरे पहर।
आओ, मन की आँखों वाले
नये चित्र की रेख उजालें,
फागुन गा लें।

कटी हुई नजरों की बस्ती
ये अभाव-अभियोग,
मतभेदों की जनश्रुतियों में
श्वेत-श्याम सयोग।
आओ, एकबारगी फिर से
इनको भूलें, कल पर टालें,
फागुन गा लें।

किसी हवा की उगली पकड़े
किधर कहाँ जाए?
कब तक अपने को अधियारे
पथ में भटकाए?
आओ, किसी फूल को छू लें
गर्भाधान हो मन रग डालें,
फागुन गा लें।

□

रसिया गीत

मन उड़ा-उड़ा जाए सुन चग रसिया,
गजब तेरे गीतों की तरग रसिया।

माटी की देह बनी
कोरी-कोरी गगरी,
रोके-टबोके जिसे
सारी-सारी नगरी।

मैं भूल गई जीने का ढग रसिया,
तेरे रग ने किया बदरंग रसिया।

आग और पानी का
सीधा एक रास्ता,
यौवन तो रखता है
उसी से ही वास्ता।

जीने नही देती है उमंग रसिया,
भीतर-बाहर छिड़ी हुई जंग रसिया।

दूर कही जाना है
आगे-पीछे मुड़के,
किसे पता कौन मिले
राह में बिछुड़के।

लागी नही छूटे रहे सग रसिया,
मेरा अंग बने तेरा अंग रसिया।

□

शाम के नाम

धूप-पृष्ठ पर किरण-नोक से
दिन ने पत्र लिखा,
शाम ने पढ़ा नहीं।

घंटों ही गरमाया सूरज
थक कर बैठ गया,
और उजाला चलते-चलते
तम में पैठ गया,
माटी का वह रूप हल्दिया
यहाँ-वहाँ उभरा—
किसी पर चढ़ा नहीं।

बहुत दिया श्रम को दाता ने
घर में नहीं बचा,
समय-सृष्टि कर्त्ता ने मनु के
क्षण को नहीं रचा,
उजली तस्वीरों में हमने
सुख को कैद किया—
हृदय को मढ़ा नहीं।

अपराधों के हाथ देह को
पूरी काट गये,
छोटे-छोटे टुकड़ों में फिर
हमको बाँट गये,
बच्चेपन को छुआ सभी ने
कोई रूप नया—
किसी ने गढ़ा नहीं।

□

चल, घूमे और कहीं

अपने किसी अकेलेपन की
कोई जगह नहीं,
चल, घूमें और कहीं !

कच्ची सड़कों पर चलने से
अच्छा उड़ते रहना,
जीवन का सीधा मतलब है
खुद से लड़ते रहना,
कटुताएँ मिल रही निरन्तर
कोई वजह नहीं !

फटी कमीजों की दुनिया में
कौन किसे पहचाने ?
वेतन एक निमिष का सुख है
दुःख अनाज के दाने,
चारों ओर धुंध के डेरे
होती सुबह नहीं !

कुंठाओं की इस बस्ती के
लोग सभी चितकबरे,
दृष्टिहीन हैं आंखदार तो
कानों वाले बहरे,
अंधी दौड़, पाँव के नीचे
कोई सतह नहीं !
चल, घूमें और कहीं !

□

तुम तो ऐसे मिले

बिखरे सन्दर्भों को जोड़ूं या प्रसगवश बात कहू फिर,
तुम तो ऐसे मिले कि जैसे हम-तुम पहली बार मिले हो ।

पहले भी परिचय-सा कुछ था,
मिलने के अभिनय-सा कुछ था,
खोये खोये रहे कि जैसे
आँखों मे विस्मय-सा कुछ था ।

उन भूली-बिसरी बातो मे या सपनीली उन रातो मे–
देह गध थी लेकिन लगता वे सपने इस बार खिले हो ।

तुमने कहा, "अकेली हू मैं"
मैंने कहा, "साथ मे मैं हू,"
तुमने कहा, "पाँव मे गति है"
मैंने कहा, "पाथ मे मैं हू ।"

उन दर्दीले गीतो मे या स्वर मे, लय मे और ताल मे-
कुछ भी नही किन्तु लगता है हम तुम जैसे साथ चले हो ।

तन तो नही रहा मेरा पर
मन तो अब भी साथ तुम्हारे,
सारी उमर यही सोचा है
कोई तट से कभी पुकारे ।

मिल न सके पर मिलने की हर मजबूरी के साथ रहे हम
लगता जैसे एक रूप दो आकृतियो के बीच ढले हो ।

रात उत्तर नहीं दे सकी

प्रश्न दिन के अबूझे रहे,
रात उत्तर नहीं दे सकी ।

कौन जाने कहाँ क्या हुआ,
सब तरफ है धुआँ ही धुआँ,
खेलता ही रहा आदमी—
हर घड़ी नौकरी का जुआ ।
जेब तक रह गई आस्था,
भूख ईश्वर नहीं दे सकी ।

अनलिखी है सुबह की बही,
शाम कॉफीघरों तक रही,
वह दुपहरी गयी लंच पर—
और लौटी अभी तक नहीं ।
भीड ने जी लिया है शहर,
पर घुटन स्वर नहीं दे सकी ।

लो चलें, अब कहीं और ही,
इस जगह है महज शोर ही,
आँकड़े–आँकड़े–आँकड़े—
बीतने को नया दौर भी ।
सांत्वना को सभी कुछ मगर
भावना घर नहीं दे सकी ।

□

क्षण की टूटन

तोड़ दिया भीतर का दरपन
द्वार खुलाती धूप ने,
हम तो बाहर निकल रहे थे
अपने घर के काम से ।

कच्चा सपना आँखों पर फिर
पट्टी बाँध गया,
उकताहट के एक निमिष ने
फिर झकझोर दिया,
छोड़ दिया निरुपाय-निराश्रित
उजलेपन के रूप ने,
हम तो चाह रहे थे बचना
किसी चित्र अभिराम से ।

टूट गिरी जब शिला वक्ष पर
तब यह बोध हुआ,
किसी कसक ने चुपके से आ
जैसे कहीं छुआ,
जोड़ दिया क्षण की टूटन से
दफ्तर वाले कूप ने,
आतंकित हो गए कलम के
और सुयश के नाम से ।

संशोधन कर सकें दृष्टि में
या कि पृष्ठ भर दें ?
एक बड़ी दुविधा है आखिर
किसको क्या कर दें ?
मोड़ दिया जैसे पाँवों को
परिवर्तन प्रारूप ने,
कैसे चलना रहे निरन्तर
पथ के अर्द्ध विराम से ?

□

जब भी कोई हवा

जिस दिन से तुम पास नही हो, ऐसा कुछ लगता है मुझको;
मैं भीतर से टूट गया हूँ, तुम बाहर से बदल गयी हो ।

जब भी कही अजाने क्षण मे
एक कसक छूती है मन को,
कुछ भी रास नहीं आता है
भुला नही पाता सावन को ।

जिस दिन से तुम पास नही हो, अगजग कटा-कटा लगता है;
जैसे सुधियाँ कजल गयी है, तुम जीवन मे कजल गयी हो ।

जब भी कोई हवा हाथ को
चुपके से आकर गहती है,
अधियारे की कोई आकृति
कुछ दिन आस-पास रहती है ।

लगता है हम कभी अबोले रहकर भी बतियाते रहते;
फिर लगता मैं यही कही हूँ, तुम सूने में निकल गयी हो ।

जब भी कोई एक तीसरा
व्यक्ति बाँट देता है हमको,
उजियाले से दूर भागते
और कोसते रहते तम को ।

लगता मिलना नाटक ही है जिसको हम अभिनीत कर रहे;
किसी रात तुम किसी सपन की बाँहों मे भी मचल गयी हो ।

□

एक गंध के लिए

आजकल ऐसे लगता है सच्चाई को बोलना,
अंधियारे मे जैसे अपनी सूरत को टटोलना।

कोई नही दर्द का मारा
सब सुविधा के मारे हैं,
एक अकेलापन ही सुख है
बाकी तो दुःख सारे है।

शब्दो मे ऐसे लगता है अपना व्यक्ति तोलना,
अंधियारे मे जैसे अपनी सूरत को टटोलना।

कोई नही साथ देता है
सब कच्चे व्यवहारो के,
जितने बाहर होते उतने
भीतर है दीवारो के।

बडा कठिन है परिजनो मे मनोग्रंथि को खोलना,
अंधियारे मे जैसे अपनी सूरत को टटोलना।

सडके कही नही जाती है
हम जाते चौराहो तक,
मन की जगह खुरचने वाले
पहुच न पाते चाहो तक।

एक गंध के लिए चमन मे फूल-फूल पर डोलना,
अंधियारे मे जैसे अपनी सूरत को टटोलना।

□

मेरे गीतों को....

मेरे गीतों को अनबूझा ही रहने दो इस जीवन मे;
हर प्रतिभा को यश मिल जाए ऐसा कोई वतन नही है।

किसी प्रशसा पर जीते हो
ऐसे मेरे गीत नही हैं,
जिन्हें चाहिए वैभव-सम्बल
वे सब मेरे मीत नही है।

मैं तो ऐकाकी जीवन को जीने में अभ्यस्त हो गया;
मेरी घनी उदासी वर ले ऐसा कोई अमन नही है।

उसको मान मिला करता है
जिनकी प्रतिभा चुक जाती है,
बिना दर्द तो बहुत लिखो पर
कहीं लेखनी रुक जाती है।

किसी सरसता की धारा का कही सिलसिला टूट गया तो;
अनायास ही कुछ लिखवा दे ऐसी कोई चुभन नही है।

लिखने वाले लिख जाते है,
किन्तु लिखे का अर्थ नही है,
एक गीत ही लिखे, हृदय को
छू ले तो वह व्यर्थ नही है।

जो अपने को व्यक्त कर सके उसकी क्षमता कभी नही कम;
कविता और हुआ करती है शब्दो का ही चयन नही है।

□

तुम्हारे मोह से बंधकर

शहर जो तुमसे मिला था, उसे लौटा रहा हू मैं,
यही सुख कौन कम है अब यहां से लौट जाने मे !

तुम्हारे मोह से बधकर
तुम्हारा हो गया था मैं,
तुम्हारे रग ऐसे थे
उन्ही मे खो गया था मैं ।

गध जो तुमसे मिली थी, उसे लौटा रहा हू मैं,
इसे तुम कांच मे मढकर सजा लो रिक्त खाने मे ।

कही कुछ था, उसी से हम
जुडे थे टूट जाने को,
हमारे हाथ बधकर भी
विवश थे छूट जाने को ।

तुम्हारे रूप तक आकर, परे ऐसे रहा हू मैं,
अलग-सा एक दर्पण हो किरण के शामियाने मे ।

चलो, अच्छा हुआ यह क्रम
न आगे और चल पाया,
भला यह कौन कम है—
दर्द को हमदम न मिल पाया ।

तुम्हारा हाथ गहकर भी रहा हूं इस तरह से मैं,
उमर का एक कैदी हो खुशी के कैदखाने में ।

□

तुम्हार लिए

न जाने कहाँ से, न जाने कहाँ तक–
उडा ही किया मन
तुम्हारे लिए ।

खिला गंध जैसा, मिला प्यार जैसा,
उमर की गली में किसी यार जैसा,
रहा मौन–उन्मन
तुम्हारे लिए ।

चला दृष्टि जैसा, रचा सृष्टि जैसा,
बिखर ही गया फिर नयन-वृष्टि जैसा,
यह पारे-सा तन
तुम्हारे लिए ।

साझ की वह किरण फिर बिछल ही गई,
छाँह के आँगने धूप ढल ही गई,
बरसता रहा घन
तुम्हारे लिए ।
उड़ा ही किया मन
तुम्हारे लिए ।

□

हम तो कागज मुड़े हुए

भीतर दरके, टूटे-बिखरे
फिर भी शायद जुड़े हुए हैं,
कभी दुबारा पढ लेना तुम
हम तो कागज मुडे हुए है ।

अक्षर-अक्षर चले कही से, शब्द-शब्द तक कही रह गए,
इस जीवन के अर्थ हमारे आँसू-से चुपचाप बह गए ।

किसी पंक्ति मे आगे-पीछे
बैठे या फिर खडे हुए हैं ।
कभी दुबारा पढ लेना तुम
हम तो कागज मुडे हुए है ।

रहे न माणिक-मोती जैसे, हमको कौन चुराने आता ?
दर्द हमारे कौन भुनाता, दु ख भी कौन भुलाने आता ?

जिसे न कोई छू पाता है
उस पत्थर मे जडे हुए है ।
कभी दुबारा पढ लेना तुम
हम तो कागज मुडे हुए है ।

हम पर अब क्या शेष रह गया, हम तो उजडे घर के दर है,
दीवारो मे नही चुने पर हम तो पत्थर से बदतर हैं ।

पानी, गारे और हवा के
बलबूते पर खडे हुए हैं ।
कभी दुबारा पढ लेना तुम
हम तो कागज मुडे हुए है ।

□

मन नहीं लगे कहीं तो

शब्द में ढलो, किसी को अर्थ-से दिखो,
मन नहीं लगे कहीं तो चिट्ठियां लिखो।

आरपार दूर-पास
तुम रहो कहीं,
इस तरह मगर लगे
कि पास हो यहीं।
मूल्यवान हो समय के हाथ मत बिको।

धूप-छांह फैल-पसर
कब बनी यहां ?
दोस्ती की एक आंख
दुश्मनी यहां।
दर्द में भी स्वाद है तुम जरा चखो।

टूटती है देह तो
पथ छूटते,
अपने ही लोग, —
बार-बार रूठते।
सब जगह न एक-से चलो, नहीं रुको।
जिंदगी के मोड़ पर यों नहीं थको।

□

यह अच्छा नहीं किया,
मन को फिर छेड़ दिया ।

विद्रोही बचपन का, अन्वेषी यौवन का,
है सगा नहीं जग में अपने भोलेपन का,
इसकी यह आदत है
खुद से उलझा करता—
सुविधाओं की खातिर
समझौता नहीं किया ।

जो रास नहीं आये वे बंधन तोड़ रहा,
जो कंधे छील रहे वे रिश्ते छोड़ रहा
मनमौजी भी ऐसा
यह बंजारे जैसा—
गाते-गाते इसने अपने को मिटा लिया ।

रूठा तो तृण जैसा, टूटा तो क्षण जैसा,
जीवन की बस्ती में निर्धन के ऋण जैसा,
छूने पर खिल जाए
मिलने पर अकुलाए-
जो नहीं जिया जाए
इसने तो वही जिया ।

□

आदमी के लिए

रूप हैं, रंग हैं
ग्रौर सब ढग हैं,
जल रही ग्रांख की हर नमी के लिए,
ग्रादमी ही नहीं ग्रादमी के लिए ।

छूटती जा रही हर सतह
क्या करें ?
शाम होने लगी हर सुबह
क्या करें ?
सोचता कौन है सरजमी के लिए ।
ग्रादमी ही नहीं ग्रादमी के लिए ।

एक माहौल जन्मा कही
थम गया,
जोश का स्वर बरफ-सा कही
जम गया ।
लक्ष्य ही रह गया हर कमी के लिए ।
ग्रादमी ही नही ग्रादमी के लिए ।

चेतना यों मिली, ग्रास्था
सो गयी,
भीड के तन्त्र में क्राति ही
खो गयी ।
शख बजने लगे मातमी के लिए ।
ग्रादमी ही नहीं ग्रादमी के लिए ।

□

पानी का गीत

पानी के दरपन पर यों ककरी न मारो,
बिम्बो का जीवन बिखर जायगा।

पानी के ऊपर भी बहता है पानी,
पानी के भीतर भी रहता है पानी;
सागर के पानी को हाथो से तोला तो
लहरों का कचन उतर जायगा।

सभव न पानी के पानी को आकना,
लगता ज्यों अपने ही भीतर मे झाँकना,
यौवन को दोपो की आँखो मे देखा तो
पर्द का बचपन उघर जायगा।

खारा या मीठा हो पानी तो पानी,
हो गदलाया फिरभी सजल है कहानी,
मोती तलाशोगे निर्जल की तहो मे तो
दलदल का दर्शन उभर जायगा।

□

मन के हिमखण्ड

या तो इन नीली आंखों के
कुण्ड बहुत गहरे हैं,
सपने जिनके निर्मल जल में
शतदल-से ठहरे हैं।
या मन के हिमखण्ड तपे हैं
और कहीं पिघले हैं,
चील-दृष्टियों की आंखों में
हम-तुम बहुत खले हैं।

पहचानी-सी दृष्टि तुम्हारी
टिकी हुई आंखों पर,
जैसे कोई धूप खेलती
परिचित-सी शाखों पर।
सम्मोहन है, अनबोले भी
हर क्षण साथ चले हैं,
मन के चौराहों पर आकर
लगता कहीं मिले हैं।

☐

कौन करे सूरज का स्वागत ?

गाँवों तक रह गयी गरीबी, कस्बों में अपराध उग रहे,
नगरों मे है नरक जिन्दगी, कौन भेद की खाई पाटे ?

मतलब की दुनियादारी में
फूटे घर हैं, टूटे द्वारे,
धुंधलाए जीवन के दर्पण –
मन के भीतर कौन निहारे ?

बटमारों की राजनीति से तंत्र और जन जुड़े न अब तक–
कुर्सी तक रह गये लोग सब, कौन किसी के दुख को बाटे ?

कल जो सपनों मे चलते थे
छायाओं जैसे मिलते थे,
अब तो वे पहचान न पाते–
गीली कोरों मे पलते थे।

लोग हो गए कैसे-कैसे, अपने घर अनजानों जैसे–
कौन करे सूरज का स्वागत, कौन धूप की किरचें छाटे ?

सबकी अपनी मायानगरी
सबके अपने ताने-बाने,
कुछ के पेट बहुत फूले हैं
कुछ के घर में दुख के दाने।

ऐसी बस्ती मे रहते है जहाँ स्वय से नही सुरक्षित–
कोलाहल के बीच आदमी और साथ मे सौ सन्नाटे।

□

अपना ही मन

रास न आए असमय के दिन,
अपना ही मन ।

भीतर से बाहर तक बहना,
बाहर खोये-खोये रहना,
बिखरा जाए संशय के दिन,
अपना ही मन ।

कच्ची बातों की वह टूटन,
या अनचाहा-सा अपनापन,
रिस-रिस जाए विस्मय के दिन,
अपना ही मन ।

नीली बस्ती लोग पराए,
मौसम से पहले बौराए,
क्या कर पाए निर्णय के दिन,
अपना ही मन ।

दरक-दरक कर टूटा-बिखरा,
फिरभी जीवन रूप न निखरा,
अनजाना-सा निश्चय के दिन,
अपना ही मन ।

□

मौन के शिविर मे

ग्रांखो के ग्रागे फिर जाल है, झमेले है,
मौन के शिविर मे हम ग्राज भी ग्रकेले है।

हम ही तो सूरज के रथ को हैं हांक रहे,
नीले ग्रधियारो का दुबलापन ग्राक रहे,
बस्तियां बसाने को रोशनी बिछाते है–
फिरभी इन सतहो से जा रहे घकेले है।

माटी के बेटो ने घरती को काट दिया,
सोनाली फसलो को खेतो मे बाट दिया;
पानी तो बरसा था ग्रांख के किनारो तक–
गाँवो मे सूखा है, शहरो मे मेले है।

ग्रपने कुछ होने की बातें भरमाती है,
जीवन की परिणतिया हमको भटकाती हैं,
पथ से भी ग्रागे तक पाँव चले ग्राए है–
इस ग्रोर मगर लगता सपने भी ढेले है।

□

भोर के जुलूसों में

सूरज की आँखों मे असमय के भ्रम,
किरणों के आँगन में भीड़ भरे तम ।

भोर के जुलूसो मे
हडताली नारे हैं,
अपने को दुहराते
प्रश्नों-से सारे हैं ।

अनजाने ऐसे हैं जैसे हमदम ।
किरणों के आँगन में भीड भरे तम ।

अर्थहीन शब्दो में
सब ताने-बाने है,
मागें, अनशन, धरने
जीवन के माने हैं ।

कागज की सुविधाए, बातो के श्रम ।
किरणो के आँगन मे भीड़ भरे तम ।

पहचाने-से जनपथ
पाँवो से छूट रहे,
बाहर जो बतियाते
भीतर से टूट रहे ।

बाँहों के घेरे भी फैले है कम ।
किरणों के आँगन में भीड भरे तम ।।

☐

साँसो में बजते थे

हमको जाना ही था, आखिर कब तक रुकते
आज नही कल जाते,
अच्छा तो यह होता, जो सपने बोये थे-
आँखो मे खिल जाते ।
उनसे भी मिल जाते ।

जैसे हम आए थे हल्के-हल्के होकर,
वैसे ही जाएगे भीतर-भीतर रोकर,
अच्छा तो यह होता, जो दर्द जगे-से है-
थपकी देकर उनको हम दूर निकल जाते ।
आज नही कल जाते ।

साँसो मे बजते थे हर क्षण इकतारे-से,
अपने को गाएगे होकर बनजारे-से,
अच्छा तो यह होता, घर से बाहर आकर-
फिर किसी इरादे-से हम कही बदल जाते ।
आज नही कल जाते ।

इतना लम्बा पथ है पाँव फिर मुड़गे क्या ?
जुड़कर ही टूटे है, टूट कर जुड़ेंगे क्या ?
अच्छा तो यह होता, हम किसी विदा के क्षण-
तुमसे ही बिलग हुए, तुमसे ही मिल जाते ।
आज नही कल जाते ।

□

मन का तुलसीदास

मन का तुलसीदास क्षुब्ध है, गाए गीत कबीर।
दो रूपो की काँवरिया को ढोए एक शरीर।

बुनते-बुनते तार साँस के
कर्म जुलाहा कहता,
शंकाकुल हो हृदय जहाँ पर
वहाँ ज्ञान कब रहता ?
पूरी कामायनी सृष्टि है, कुरुक्षेत्र है भीर।

भावों की मूरत कजलायी
छंद-राग सब छूटे,
अनगढ भाषा और शब्द के
कंगूरे तक टूटे।
लिखने बैठे आग, कलम से खींच रहे पर चीर।

बौनापन पदलोलुप होकर
उभर पृष्ठ पर आया,
किरच-किरच हो गया काच वह
जुड़ा, कहाँ खिल पाया ?
आँखों से ढरका, हाथों तक रहा नहीं वह नीर।
मन का तुलसीदास क्षुब्ध है, गाए गीत कबीर।

□

दिन यों ही बीत गए

भीतर इतने भरे कि बाहर क्षण-क्षण रीत गए,
दिन यों ही बीत गए ।

समय-जलधि मे उतरे-डूबे,
हम-तुम फिर जीवन से उबे,
आखिर धारा तक आ पहुँचे लोग अतीत गए ।
दिन यों ही बीत गए ।

लोग छांह बनकर छितराए,
सच को भूले या बौराए,
उनसे क्या मिलना जो हमसे हो विपरीत गए ।
दिन यों ही बीत गए ।

ऐसी गलत नही थी माटी,
कोई काट बनादे घाटी,
हार गए पदचिन्ह दिशा के, रजकण जीत गए ।
दिन यों ही बीत गए ।

किससे जुड़ें और क्यों टूटें ?
ठाव-ठाव किस-किस से रूठें ?
उधर चलें, जिस ओर कभी थे मन के मीत गए ।
दिन यों ही बीत गए ।

□

समय सूर्य है और उजाले हमसे है,
हम तो जीवित यहाँ कलम के दम से हैं।

किसी रियायत पर होते तो
मिट जाते,
जो सम्मान मिला वैसा भी
कब पाते ?

सब कोणों से टूटे, जुड़े अहम् से हैं।
हम तो लड़ते रहे हमेशा तम से है।

टूट-बिखरने का हमको क्या
ग़म होगा ?
होगा भी तो हम जैसों को
कम होगा।

दुख तो लिखे हथेली पर इस क्रम से है,
पीड़ा की रेखाएँ यहाँ जनम से हैं।

जिसके लिए सजल है आँखें
सपना है,
वह सपना भी सिर्फ आँख का
अपना है।

हम लोगों के लिए सभी सुख भ्रम-से है,
और सभी दुख जीवन के संयम-से है।

□

एक आस्था बनते-बनते किसी भरम-सी कसक गयी ।

जितने हम-तुम पास-पास थे
अब उतने ही दूर-दूर हैं,
या तो वे अहसास गलत थे
या जीवन के सत्य क्रूर हैं ।

जिस पर नाम लिखे थे हमने वही भित्ति अब दरक गयी ।

ऐसे हैं कुछ दर्द, प्यास के
बदले जिन्हें पिया जाता है,
यों भी कभी अनमने मन से
हर क्षण नहीं जिया जाता है ।

तुमसे मिलकर लगा कि भीतर एक शिला थी, सरक गयी ।

रूप प्रेम के गलियारों में
जब भी कहीं ठगा जाता है,
धागे सपन नहीं बुन पाती
साँझ ढले मन अकुलाता है ।

शायद कोई शाख लरज कर टूटी है या लरक गयी ।

□

गंध-विराम

जाने कौन कोरता मन पर अनगिन चित्र ललाम।
ऐसे ही उगता है सूरज, यो ही ढलती शाम।

जब भी रग उकेरे जाते
रेखाएं धुंधलाती,
नूतन रूप उजलते जाते
पीड़ाएँ बढ़ जाती,
अधरो पर गीतों-सा ढरता कोई भूला नाम।
ऐसे ही उगता है सूरज, यों ही ढलती शाम।

फगुनाई बतरस में सुधियाँ
आहुट बनकर आतीं,
जब भी कही टबोका जाता
परिणतियाँ भटकाती,
मलयज की प्रत्येक पक्ति में होता गंध-विराम।
ऐसे ही उगता है सूरज, यो ही ढलती शाम।

आकृतियाँ चुन्नट में बंधकर
फगुआ नया रचाती,
तृष्णाएँ आभासित होकर
हर क्षण यहाँ नचाती,
रूपायित होने से पहले ढल जाते हैं याम।
ऐसे ही उगता है सूरज, यो ही ढलती शाम।

□

अपना सब कुछ भूल गया हूँ, क्या था, क्या हूँ और कहाँ हूँ ?
जब से मन की किसी भित्ति पर खुरच गया है नाम तुम्हारा।

शब्द अधूरे या आधे-से
जब सपने रूठे लगते है,
मुझको वे अनुबंध प्रणय के
जैसे तो झूठे लगते है।

जबसे तुमने निर्मम होकर मेरा वह विश्वास छल लिया—
टूट गया अनुराग, सामने आया तब परिणाम तुम्हारा।

सूरज तो घर तक आया था
तुम ही खिडकी खोल न पाए,
पुरवा ने दस्तक दी द्वारे
तुम भीतर से बोल न पाए।

मुझको बाहर जिसने देखा, आसपास हो वही टबोका-
बजारे हो कभी न होगा इस धरती पर धाम तुम्हारा।

देखा भीतर-बाहर भ्रम था,
मिट जाने का कोई क्रम था,
किसके घाव पूर पाता मैं
मुझ पै मेरा दर्द न कम था ?

सारा जीवन धूल-धूसरित जैसे सुविधाओं से वंचित-
लौट गया इतना ही कहकर 'चित्र रहे अभिराम तुम्हारा'।

□

तुम्हारे गाँव

कोपलें फूटी जहाँ पर प्यार की
दर्द ने पाई जहाँ पर छाँव !
आ गया हूं फिर तुम्हारे गाँव !

एक बोझिल साँस हल्की हो गयी
एक टूटा तार मन का मिल गया,
ताल में खिलता हुआ जैसे कमल
झील के नीले नयन में खिल गया।
कामकाजी जिंदगी मे जीत बैठा
फिर उमर का दाव !
आ गया हूँ जब तुम्हारे गाँव !

पाँव की गति मुड़ गयी जैसे मुड़ी
जा रही पगडंडियाँ हर खेत में,
और मिट्टी के घरौंदे मे पला
बन गया व्यक्तित्व उर्वर रेत मे ।
आज हमदम हो गया है पथ का
अजनबी कोई पड़ाव !
आ गया हूँ जब तुम्हारे गाँव !

सहज कितनी हो गयी अनुभूतियाँ
कल्पना कितनी सयानी हो गयी
और चिन्तन शब्द बिन होने लगा,
हर व्यथा जैसे कहानी हो गयी ।
अधर से ढुलने लगे हैं गीत
नयन से ढरने लगे है भाव !
आ गया हूँ जब तुम्हारे गाँव !

□

दिशाहीनता

जीना ही होता है
अंधेरे-उजाले को,
सोचे हुए कर्म को करने नही दिया ।

आँगन का अंधकार, मंडराया पारद्वार,
कभी खोल पाता क्या दुर्गों से बन्द द्वार ?
पीना ही होता है
घूंट-घूंट गरल हमें,
मगर रिक्त प्याले को भरने नही दिया ।

वक्त सभ्य लगता है कतार में खडा हुआ,
इतने बडे शहर मे रहता शव पडा हुआ ।
सीना ही होता है
भीतर का घाव हरा,
तिमिर और जाले को ढरने नही दिया ।

अर्थ आत्मचिन्तन का दिशाहीन-व्याधियाँ,
खुशियों का अर्थ है आँसुओ की सधियाँ ।
कथ्यहीन होकर सब
बुनते है शब्द-जाल,
अधरों पर गीत मधुर धरने नही दिया ।

□

बिम्बों-सी उभरो

जो कुछ तुमने किया, बहुत पर
इतना और करो,
कुछ क्षण मेरे अधरों से तुम
बन कर गीत ढरो !

यह ऐकान्त और वह हलचल
सब ही मिले, सही
मुझसे पूछो, मैं इनमें हू
सचमुच, कही नही,
अनबोला-सा एक निमिष हू
मेरे सग विचरो !

रगो-रेखाओं-चित्रों मे
मन का चित्र कहाँ ?
मुझे वहाँ ले चलो, शब्द के
सुख का साथ जहाँ,
रहो अपरिचित मगर दूर तक
जीवन बन ठहरो !

यह उकतायी शाम, कागजो मे
दिन बीत गया,
टूटी किरणो वाला सूरज
आखिर रीत गया;
खालीपन की सीमाओ मे
बिम्बो-सी उभरो !

□

रोक दिया

देहरी को लाँघ कर
आँगन तक पहुँच गया,
परदे ने रोक दिया
जाते हुए कक्ष में।
खोया-सा खड़ा रहा, प्रश्न-चिह्न बना हुआ,
दूसरे के ध्यान में अपना ही बदन छुआ,

घोर अंधकार बीच
साधे रहा मौन पर
आँखों ने झाँक लिया
मन के अंतरिक्ष मे।
ठोकर ने प्रश्न किया, पीडा ने नाम लिया,
तुलसी के पौधे ने बाँहों मे थाम लिया,

अनकिये से काम में
परिचित-सा मधुर शब्द
अपनों सी बात को भी
कह गया विपक्ष में।
जैसे ही पाँव बढ़े, ज्यों ही पदचाप सुनी,
परदे के बंध तोड़, पास आयी रोशनी,
दृष्टि मे न आया कुछ
खुली आँख बंद लगी
वह भी दूर हो गया
आया जो समक्ष में।

□

नये नगर का गीत

खोकर अपनेपन का निष्छल ऐकाकीपन—
अनजान नगर में मन कितने दिन और रहें ?

सबकुछ ही बदला-सा, पहचान नही कोई,
इसानों की बस्ती, इसान नही कोई ।
ये गूगी-सी गलियाँ, ये नामहीन रस्ते,
ये बेमानी बाते, ये लोग बडे सस्ते ।

डूबे तो किस जल मे, मापे क्या गहरापन ?
अनजान नगर मे मन, कितने दिन और रहे ?

हर क्षण टूटा-टूटा, हर समय एक हलचल,
जीवन से भी ज्यादा बिखराव और दलदल ।
यह लबी एक सडक, ये टेढेमेढे घर—
कुठाएँ सीख रहीं पढना उजले अक्षर ।

परिचय भी दें तो क्या, चाहे क्या अपनापन ?
अनजान नगर मे मन कितने दिन और रहे ?

□

पहचानी सतहें

पहले भी श्राए हम
लगता इन सतहों तक
श्रौर लौट गए हैं
कई-कई बार ।

कच्ची-सी डोर मे
गूथे थे मालिन ने
फूलों-से रात-दिन,
सख्या तो याद नही
क्षण थे श्रनगिन ।

रात के बटोही हम
श्राए थे सुबह तक
लौटे है फेंककर
कबूतरो को ज्वार ।

यात्री है, लौटेगे
सध्या तक गाँव,
श्रपनी न कोई प्रतीक्षा
श्रपना न ठांव ।

नदिया से लौटे हैं
तटवर्ती सतह तक
हाथों में फूल श्रौर
शीश लिए पानी की धार ।

□

आज सपनों के गाँव
सुधियों के तट—
लगा मेला रे।
चलो, संग-संग चलें,
गंध जैसे खिलें।

एक अर्सा हुआ हम मिले ही नहीं,
दृष्टि की परिधियों से चले ही नहीं।
उस तरफ फिर कहीं,
रूप कोई नहीं
अब अकेला रे।
रंग जैसे घुले
और मन से खुलें।

उम्र आधी हुई और बँट-बँट गई,
कौन जाने कहाँ कब किधर कट गई।
हर बदल के लिए
रास आया नहीं
हर झमेला रे।
छाँह जैसे पलें,
श्वाँस जैसे मिलें।

□

अंधी दौड़

कितनी अंधी है यह दौड़ ?
उड़ती हुई धूल की
बाँहों में लिपटी-सी
मटमैली आकृतियाँ
आयी हैं पिछली
जगहों को छोड़ ।

रेत : जैसे इनके चिकने और
नहीं तराशे गए
चेहरों पै
मली गई अबीर,
आग : जैसे खोखले बदनों से
उतरा हुआ चीर,
सब तरफ मरुस्थलीय खण्ड
कहीं नहीं नीर
और ये लोग
पीते है बार-बार
देहों को निचोड़-निचोड़ ।
कितनी अंधी है यह दौड़ ?

कोई नहीं आकृति
कोई नही राग,
मलबे के नीचे
दबी हुई आग ।
रक्तहीन–देहों में
हड्डियों को जीने की
लगी हुई होड़ ।
कितनी अंधी है यह दौड़ ?

□

अँधा कुआँ

जो हुआ, अच्छा हुआ,
हमने भी झाँक लिया
लगड़ो के गाँव का
अधा कुआँ ।

अब तो है छूट रहे पाँवो से
पगडडी-गेह-पाथ,
वह भी सब छोड चले
लाए जो साथ-साथ,

न कही टोकते
गबरीले शकुन,
न कही रोकती
मटियाली-दुआ ।

हमने ही चाहे नही
झाड़ी के बेर,
छज्जे की धूप के
नये हेरफेर;
मर्म मे मौन था
भीतरी सुआ ।

सपने छलकते हैं

ऐसा कुछ होता है;
हँसने की कोशिश में मन ज्यादा रोता है।

कुछ सपने छलते हैं,
कितने ही दूर रहें—
कुछ सपने छलते हैं।
आँखों का खारा जल घावों को धोता है।

कितने दिन बीते हैं,
हम भरे-भरे लेकिन—
वैसे ही रीते हैं।
कुछ पाने की खातिर मन सब कुछ खोता है।

अब यों ही जीना है,
फिर बूंद-बूंद जैसे
अपने को पीना है।
कोई चुपके-चुपके देह-बोझ ढोता है।
हँसने की कोशिश मे मन ज्यादा रोता है।

□

बिम्ब कहाँ उतरेंगे ?

उजली-सी रेखाओं के
साँवरे चितेरे,
बिम्ब कहाँ उतरेंगे तेरे ?
सामने हैं दरपनी-अंधेरे।

छाया-सी चल रही
धूलि कण बुहारती
सड़कों की भीड़,
पाँवों से छूट रही सतहें
जुड़ने को आ जुटे
पक्षियों के नीड़।

जागने को एक रात
सोने को अनगिन सवेरे।
बिम्ब कहाँ उतरेंगे तेरे ?

गठियायी बुद्धि के मिमियाते सोच
साथ लिए कटुता की आग,
डँसने को आतुर है
कुण्डलियाँ मारे
कुंठित-अनुराग।

सर्पों से ज्यादा हैं
जहरी सपेरे।
बिम्ब कहाँ उतरेंगे ?

□

कटे हुए हाथों का गीत

कागजी ससार के हम लोग,
बन गयी उपलब्धियाँ अभियोग,
क्या कहें ?

एक गीला दिन हुआ जब साथ,
कट गया सहसा कलम का हाथ;
झाँक बैठे दृष्टि की उस ओर,
थी जहाँ पर साँझ जैसी भोर।
बाढ़-सूखे का यहाँ संयोग,
तन्त्र मे जन भी कभी दुर्योग,
क्या कहें ?

बुझ गयी भीतर लगी जो आग,
हस बन बैठे यहाँ सब काग;
और हम सक्षम मगर निरुपाय,
सोचते है नौकरी में न्याय।
मोह भी असाध्य जैसा रोग,
आदमी है आदमी का भोग,
क्या कहे ?

☐

मरुथल के फूल

गंधहीन हैं मगर
कितने नुकीले हैं
मरुथल के फूल ।

कई-कई खंडो के
बड़े-बडे खड,
चिपकाए रखते हैं
कटे हुए पाँवों से
पिछले पाखड ।
कैसे हैं लोग ये
दुहराते बार-बार
गाँवाई भूल ।

न कोई राग
न कोई लय,
चेहरों पे लिख गए
अव्यक्त भय ।
असमय ही उडती है
क्षितिजों के पार-द्वार
तिनकों को साथ लिए
गंधलायी धूल ।

□

अभी नहीं

यों बार-बार शापित होने से
अच्छा है
किसी जगह पर थिर हो जाना,
मैंने मन से कहा
मगर उसने कुछ सुनी नहीं।

कटा-कटा-सा रहा स्वयं से
समझौतों ने जोड़ा
मुझे समय की अंधी-बहरी
बस्ती में ला छोड़ा।
ऐसे क्षण संज्ञायित होने से
अच्छा है
नामहीन-बेघर हो जाना,
मैंने मन से कहा,
मगर सीमाएं साथ रहीं।

उड़े दृष्टि के रंग, सृष्टि पर
छाये रहे धुंधलके,
बाँहों के तकियों पर सोये
शाल नये मखमल के।
यों बार-बार शापित होने से
अच्छा है
एक मौन निःस्वर हो जाना,
मैंने मन से कहा
और वह बोला, 'अभी नहीं।'

□

--कोई एक नाम

कुहरे-सा मन

जाने क्या भीतर से दरका,
जाने क्या बाहर से टूटा,
किसी नियति-सा
उखड़ गया मन ।

अनजानापन पहचाना-सा,
अपना होना अनजाना-सा,
जाने क्या शाखों-सा लरका,
जाने क्या अपनो-सा रूठा–
दूरी दूरी
उजड़ गया मन ।

ऐसे क्षण भी पास न होना
और देह को चुपचुप ढोना,
जाने क्या है दुनियाभर का
जाने क्या है कोरा-झूठा–
सच की खातिर
निचुड़ गया मन ।

साँझ ढली दिन डूबा-डूबा,
कुहरे-सा मन ऊबा-ऊबा;
जाने क्या सपने-सा करका,
जाने क्या पीछे को छूटा–
बंद गली में
बिछुड़ गया मन ।

□

अभी नहीं

यों बार-बार शापित होने से
अच्छा है
किसी जगह पर थिर हो जाना,
मैंने मन से कहा
मगर उसने कुछ सुनी नहीं।

कटा-कटा-सा रहा स्वयं से
समझौतों ने जोड़ा
मुझे समय की अंधी-बहरी
बस्ती में ला छोड़ा।
ऐसे क्षण संशयित होने से
अच्छा है
नामहीन-बेघर हो जाना,
मैंने मन से कहा,
मगर सीमाएं साथ रहीं।

उड़े दृष्टि के रंग, सृष्टि पर
छाये रहे धुंधलके,
बांहों के तकियों पर सोये
शाल नये मखमल के।
यों बार-बार शापित होने से
अच्छा है
एक मौन निःस्वर हो जाना,
मैंने मन से कहा
और वह बोला, 'अभी नहीं।'

□

कुहरे-सा मन

जाने क्या भीतर से दरका,
जाने क्या बाहर से टूटा,
किसी नियति-सा
उखड गया मन ।

अनजानापन पहचाना-सा,
अपना होना अनजाना-सा,
जाने क्या शाखो-सा लरका,
जाने क्या अपनो-सा रूठा-
दूरी दूरी
उजड गया मन ।

ऐसे क्षण भी पास न होना
और देह को चुपचुप ढोना,
जाने क्या है दुनियाभर का
जाने क्या है कोरा-झूठा-
सच की खातिर
निचुड गया मन ।

साँझ ढली दिन डूबा-डूबा,
कुहरे-सा मन ऊबा-ऊबा;
जाने क्या सपने-सा करका,
जाने क्या पीछे को छूटा-
बंद गली में
बिछुड़ गया मन ।

दो क्षणों का साथ

कितना मर्मान्तक है
दो क्षणों का साथ,
जैसे देवता के सामने
जुड़ने लगे हों हाथ।

अर्चना में
गौण हैं सब
भावना ही मूल होती,
मन किसी गहरे समन्दर की
सतह पर
खोजता हर बार मोती।

मौन में यों आदमी
करता स्वयं से बात,
ज्यों थके-हारे पथिक से
बोलता हो पाथ।

हम जिसे संयोग कहते
वह किसी से घट रहे
सुख से दुखों का योग,
सत्य अधरों से ढरे तो झूठ
और हो अव्यक्त तो अभियोग।

मन किराएदार का पर्याय
हर निमिष यों आंकता
अपनी रहा बिसात,
ज्यो हवा में झूलता हो
एक सूखा पात।

□

लापता सुबह

एक करवट बदलते कटी रात पर
इस नगर में सुबह का पता ही नही।

धुंध फैली हुई हर दिशा-छोर तक,
जागरण है अभी नलो के शोर तक,
आँख मलती हुई देव प्रतिमा जगी
बंद थे उन घरो के खुले द्वार भी,
ये खुली-सी किसी आँख का है सपन
कौन सज्ञा मिले इस पहर को हमे
हम खड़े उस सतह का पता ही नहीं।

हाथ बूढे मगर धान मुट्ठी भरा
गीत गाती हुई चल रही चक्कियाँ,
सो रही हैं अभी वे सपन ओढकर
दर्द की मखमली सेज पर चूडियाँ,
चाय-कॉफी जगाकर पिला दो उन्हे
और कहदो कि सूरज उगेगा नही,
अजनबी यह जगह है सभी के लिये
सूर्य को भी जगह पता ही नही।

कल तलक जो खुलाती रही खिड़कियाँ
वह किरण पंथ मे फिर कहाँ रुक गई ?
या कहाँ थक गई ?
या कहाँ चुक गई ?
जानते हैं मगर
आज हमको वजह का
पता ही नही।

□

दीप कोई जले

दीप कोई जले,
रोशनी तो मिले,
यह अंधेरा हमें रास आता नहीं।

उम्र आधी हुई रास्ते खोजते
सामने ही रही आवरण की घटा,
यत्न लाखों किए, दर्द-आसव पिए—
दृष्टि के पास का पर न कुहरा छँटा।
रूप कोई मिले,
छाँह बनकर पले,
दर्द हर बार तो गीत गाता नहीं।

लोग ऐसे मिले हर गली-मोड़ पर
जो सपन की तरह टूटते ही गए,
साथ भी हो लिए दो कदम तो कहीं
फिर अपरिचित हुए, छूटते ही गए।
साँस के जलजले,
हमसफर हो चले,
घाव को दर्द भी अब रिसाता नहीं।

लौट आए यहाँ तब लगा हर निमिष
जिंदगी फिर उसी मोड तक रह गई,
वह थकी-सी प्रतीक्षा किसी एक क्षण—
एक सूरत बनी रेत-सी ढह गई।

बोध के सिलसिले,
आदमी को खले,
मोह भी दूर से अब सुलाता नहीं।
यह अंधेरा हमें रास आता नहीं।